हिन्दी शोध-तंत्र की रूप-रेखा

डॉ० मनमोहन सहगल
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
पंजाबी विश्वविद्यालय
पटियाला

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

प्रकाशक पंचशील प्रकाशन
फिल्म कालोनी, जयपुर–302003

मूल्य बीस रुपया

संस्करण 1979

मुद्रक : गायत्री प्रिन्टिंग प्रेस,
मनिहारो का रास्ता, जयपुर–302003

प्राक्कथन

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से शोध-शिक्षण को समुचित एव सुयोग्य बनाने के लिए गत वर्ष जो नियम बनाए गए, उसके परिणाम स्वरूप भारत के समस्त विश्वविद्यालयो को एम० फिल्० उपाधि के लिए शिक्षण प्रारम्भ करना अनिवार्य हो गया। कुछ विश्वविद्यालयो ने इस स्तर पर उसी समय शिक्षण प्रारम्भ कर दिया, कुछ अन्य धीरे-धीरे इसे अपनाते चले जा रहे हैं।

एम० फिल् के छात्रो के लिए अनुसधान-प्रक्रिया या शोध-तन्त्र का अध्ययन अनिवार्य माना गया है। निपट नवीन विषय होने के कारण विश्वविद्यालयीन प्राध्यापको एव एम० फिल् के छात्र-छात्राओ के लिए उक्त पत्र का पठन पाठन कठिन-सा महसूस होने लगा। हिन्दी मे डॉ० सरनाम सिह, डॉ० विनयमोहन शर्मा, डॉ० उदयभानु सिह तथा डॉ० सावित्री सिन्हा आदि तीन चार लेखको ने ही इस क्षेत्र मे लेखनी उठाई थी। उनकी रचनाए अब तक लगभग पुस्तक विक्रेताओ के यहा से चुक गई हैं, नवीन सस्करण अभी आने की आशा नही। ऐसे मे विषय-शिक्षण के लिए एक निसर्ग आवश्यकता की पूर्ति है हमारा यह विनीत प्रयास 'हिन्दी' शोध तत्र की रूप-रेखा।

गत वर्ष विश्वविद्यालय मे यह पत्र पढ़ाने का दायित्व मुझ सौंपा गया था, उसी दौर में क्लास-नोट्स तैयार करने पडे, नियमित भाषण देने हुए, और यह पुस्तक उन क्लास-नोट्स तथा भाषणो का सुव्यवस्थित रूप मात्र है। यदि इससे हमारे एम० फिल्० के छात्र-छात्राओ को कुछ भी लाभ मिल पाया, तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझू गा।

लेख को सुव्यवस्थित रूप देने लिए श्रुतुलेखाकन मे मुझे सर्वाधिक सहयोग अपनी शोध-छात्रा कु० मजुला गर्ग से मिला। उसे धन्यवाद तो क्या दू, आशीष देता हूँ, सदैव सुखी सम्पन्न रहने को।

घर की मलिका के सहयोग के बिना तो काम चलता नही। सहधर्मिणी विजय लक्ष्मी ने मेरे अनेक उत्तरदायित्वो को अपने पर ओढ कर मुझे इसी कार्य के लिए मुक्त रखा, अत उनका मैं विशेष आभारी हूँ।

उन सब विद्वानो के प्रति भी मैं आभारी हूँ, जिनके प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष सहयोग से मैं लाभान्वित हुआ हूँ। श्री मूलचन्द गुप्ता, व्यवस्थापक, पचशील प्रकाशन, जयपुर हमारे धन्यवाद के विशेष पात्र हैं, क्योंकि उन्होंने इस रचना को विद्यार्थियो एव प्राध्यापको के हाथ तक पहुचाने का भगीरथ कार्य किया है।

—मनमोहन सहगल

विषय-सूची

प्रथम खण्ड (सैद्धान्तिक पक्ष)

प्रथम खंड

सैद्धान्तिक पक्ष

विषय–प्रवेश

मानव की जानने की आन्तरिक जिज्ञासा सदा से ही अनुसन्धान का कारण बनती रही है। जबसे मनुष्य ने चेतना पाई है, तब से ही अनुमान और खोज दो ऐसे तत्व उसके मस्तिष्क में विद्यमान रहे हैं, जो उसके लिए निरन्तर नवीनता के अन्वेषण का आधार बने हैं। भारतीय न्याय शास्त्र ने अनुसन्धान को व्यवस्थित रूप देने के लिए पांच आधार ग्रहण किए हैं, जबकि यूनानी तत्व वेत्ताओं ने तीन ही स्थितियों में निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है। अरस्तू ने प्रधान वाक्य के सम्मुख गौण वाक्य रखते हुए अनुमान प्रमाण द्वारा निर्णय प्राप्त करने में अनुसन्धान की प्रक्रिया को स्थापित किया था, उदाहरणार्थ—

प्रधान आधार वाक्य	सब मनुष्य में बुद्धि होती है।
गौण आधार वाक्य	मोहन मनुष्य है।
निर्णय	अतः मोहन में भी बुद्धि है।

किन्तु अनुसन्धान की यह स्थिति इतनी अधिक अनुमान पर आधृत है कि स्थिति-भेद और व्यक्ति भेद को भी व्यक्त नहीं करती। इसके विपरीत भारतीय न्याय-शास्त्रियों ने अनुमान को अधिक स्पष्ट करने के लिए पांच आधार प्रस्तुत किए हैं, जिनसे अनुमान में भूल की सम्भावना कम हो जाती है, यथा—

1 मोहन में बुद्धि है	प्रतिज्ञा
2 क्योंकि वह मनुष्य है	हेतु
3 सभी मनुष्यों में बुद्धि होती है	उदाहरण जैसे राम, कृष्ण, मोहन आदि
3 मोहन भी मनुष्य है	उपनय
5 अतः उसमें बुद्धि है	निगमन

जिज्ञासा की यह अन्यतम स्थिति युग-युगान्तर से मनुष्य को नवीन खोज और ज्ञान की उपलब्धियों की ओर प्रेरित करती रही है। कभी मनुष्य में सक्रिय होकर अपनी जिज्ञासा को शमित करता है, और कभी साक्षात्कार किए बगैर ही अनुमान के बल पर निष्कर्ष निकाल लेता है। ये ही व आधार हैं जिनके कारण विश्व में ज्ञान-विज्ञान का निरन्तर विकास होता रहा है।

साहित्य में इस प्रकार की जिज्ञासाओं का शमन नवीन तथ्यों की खोज एव उपलब्ध तथ्यों की नवीन व्याख्या के माध्यम से सम्भव हो पाता है। हिन्दी का शब्द 'शोध' अथवा 'अनुसन्धान' अंग्रेजी के शब्द 'Research' के पर्याय रूप में स्वीकार

किया जाता है। 'शोध' तत्सम संज्ञा है जिसकी व्युत्पत्ति 'शुध्' धातु से होती है। 'शोध' शब्द का प्राचीन अर्थ परिष्कृत करना या प्रमाणित करना ही है, किन्तु अब विश्वविद्यालयों ने जब से इसे 'रिसर्च' के पर्यायी रूप में प्रयोग करना शुरु किया है तब से इसमें प्रमाणीकरण परिष्करण तथा सन्धान के तत्वों को सम्मलित कर लिया गया है। जो कुछ उपलब्ध हैं उसको नवरूपायित कर पुनरोपालब्ध करना 'रिसर्च' का अर्थ देना है। यही कारण है कि विभिन्न विश्वविद्यालयों के अनुसार शोध-उपाधि के लिए निम्न अहर्ताएं अपेक्षित हैं—

1. इसमें नवीन तथ्यों की खोज होनी चाहिए।
2. अथवा तथ्यों या सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या होनी चाहिए।
3. किसी भी स्थिति में प्रत्याशी की विवेचना-शक्ति तथा निर्णय शक्ति इसमें व्यक्त होनी चाहिए।
4. साहित्यिक प्रतिपादन प्रभावशाली होना चाहिए।[1]

तात्पर्य यह कि साहित्यिक अनुसन्धान के लिए अनुसन्धित्सु साहित्य के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्यों की खोज कर या उपलब्ध तथ्यों को नवीन ढंग से व्याख्यायित करे तभी उसकी उपलब्धियों को अनुसन्धान का नाम दिया जा सकता है। उच्चकोटि की साहित्यिक शैली में प्रतिपादन करना दोनों ही दशाओं में अनिवार्य है। उपर्युक्त लक्षणों में तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान तभी उपयोगी माने जा सकते हैं जब उनके माध्यम से किसी प्रकार की ज्ञानवृद्धि भी सम्भव हुई हो। डा० नगेन्द्रजी ने इन दोनों शब्दों की व्याख्या करते हुये यह स्पष्ट किया है कि साहित्य के सम्बन्ध में जो बातें अब तक भी लोकजनित नहीं हुई हैं अथवा कुछ ऐसी रचनाएं जो समय की आंधियों में लुप्त हुई पड़ी हैं, अनुसन्धाता के द्वारा यदि साहित्य जगत को उनका ज्ञान करवा दिया जाए तो वह 'तथ्यान्वेषण' कहलायेगा। इसी प्रकार यदि शोधार्थी किन्हीं लोक-जनित तथ्यों को नवीन व्याख्या देते हुये कतिपय उत्तम कोटि की साहित्यिक स्थापनायें करने अथवा किसी सत्य के उद्‌घाटन करने में सफल रहता है तो उसका वह सुकार्य 'तथ्याख्यान' कहलायगा। इसमें स्मरणीय तथ्य यह है कि शोधार्थी अपने अध्ययन को वैज्ञानिक, क्रमिक, गहन और विश्लेषणात्मक बनाकर निर्णयों तक पहुँचता है। उसके निर्णय दूसरों की ज्ञान-वृद्धि का आधार बनते हैं। सूरदास के

1. Condition No 12 of Ordinance VI A of Ph D degree of University of Delhi. "It must be a piece of research work characterised either by the discovery of new interpretation of facts or theories, in either case it should evince the candidates capacity for critical examination and judgement It shall also be satisfactory so for as its literary presentation is concerned".

पदों की खोज करने वालों ने जब सूरदास को भक्त कवि सिद्ध किया होगा तो इससे नवीन तथ्यों के अन्वेषण के साथ साथ लोगों की ज्ञान-वृद्धि हुई होगी और अब सूरदास की भक्ति पद्धति को स्थापित करने वाला शोधार्थी भी तथ्यों की नवीन व्याख्या के द्वारा ज्ञान-वृद्धि के क्षेत्र में उतना ही सहयोग दे रहा है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि साहित्य में अनुसन्धान, खोज, अन्वेषण, विवेचनात्मक वैज्ञानिक अध्ययन आदि शब्द अंग्रेजी के 'रिसर्च' शब्द के पर्यायवाची हैं। 'Research'—'रिसर्च' शब्द में 'रि'—(Re) उपसर्ग प्रन का द्योतक है। तात्पर्य यह कि तथ्यात्मक स्थिति पहले से व्यक्त है। नवीन अनुमानों, प्रमाणों, प्रयोगों, व्याख्याओं के द्वारा उन तथ्यों में निहित सत्यों को विहित बनाने की प्रक्रिया ही 'रिसर्च' कहलाती है। साहित्य ही एक मात्र ऐसी विधा है जिसमें यह निहितता सदैव बनी ही रहती है। एक अनुसन्धाता के द्वारा किसी एक विशेष सत्य का उद्घाटन पुन उस उस सत्य की नवीन व्याख्या की अपेक्षा रखता है, इसलिए साहित्य में शोध का क्षेत्र निरन्तर घात-प्रतिघात द्वारा प्रेरित होकर अक्षुण्ण बना रहता है। भौतिक विज्ञानों में ऐसी कोई स्थिति सम्भव नहीं, एक बार धरती की आकर्षण शक्ति अथवा धरती के गोल होने के सत्यों का उद्घाटन होने के उपरान्त, इसकी कोई पुनर्व्याख्या सम्भव नहीं। इस दिशा में संस्कृत की 'शुध्' धातु का आधार भी कोई न कोई बाह्य तथ्य ही होता है, क्योंकि यदि कोई बाह्य तथ्य नहीं है तो शोधन सम्भव नहीं। यही भाव अंग्रेजी के 'Re-search' शब्द में व्यक्त है।

तथ्य एक ऐसी स्थिति है जो प्रत्यक्ष विद्यमान है और सत्य उस विद्यमानता में छिपा हुआ वह मूलभूत तत्व होता है जिसका सही रूप जान लेना ही अनुसन्धाता का लक्ष्य होता है। शोधार्थी के सामने तथ्य मौजूद होते हैं, उसे उनमें से अपनी सूझ और ज्ञान द्वारा नवीन सिद्धियों को उद्घाटित करना होता है। इसके दो रास्ते हैं— 1 प्रयोग और 2 विश्लेषण। प्रयोग की विधि प्राय वैज्ञानिक शोध में अपनाई जाती है, जबकि विश्लेषण की विधि साहित्यिक अनुसन्धान में सहयोगिनी हो सकती है। साहित्यिक अनुसन्धान के विशिष्ट लक्षणों में निहित ज्ञान का मूल स्रोतों से एकत्रीकरण, सामान्य सिद्धान्तों का उद्घाटन, सजग, योजनाबद्ध तथा सुव्यवस्थित खोज, तर्क पूर्ण और निर्वैयक्तिक दृष्टि, धैर्य पूर्ण और शीघ्रता रहित कार्य-संलग्नता आदि प्रमुख हैं।

अध्याय 1

अनुसन्धान

(क) अनुसन्धान का स्वरूप

अनुसन्धान अथवा साहित्यिक शोध किसी भी साहित्यिक विषय का ऐसा सर्वांगीण सुव्यवस्थित तथा वैज्ञानिक अनुशीलन होता है जिसमे शोधार्थी किसी विशिष्ट उद्देश्य को लक्ष्य करते हुए उपलब्ध तथ्यो का निरीक्षण, परीक्षण तथा समुचित व्याख्या करता है । या तो साहित्यिक शोध के मूल उपकरण व तथ्य होते हैं, जो प्राय साहित्य की अपरिपक्व अथवा अर्द्ध-परिपक्व जानकारी मे उभरते है। उनमे से उजागर होते हुए सत्य की स्थापना ही शोध का लक्ष्य होती है । तथ्यों से सत्य तक पहुचने की एक विशिष्ट प्रक्रिया है जिसे सामान्यत शोध प्रक्रिया कहा जाता जाता है । तथ्यो का सकलन मात्र कर लेना शोध नही, केवल शोध-सामग्री का प्राथमिक उपचार मात्र है । इसीलिए तथ्यो के सग्रह को शोध मे अपर्याप्त माना जाता है यह सही है, कदाचित कुछ ऐसे अछूते विषय आज भी साहित्य म उपलब्ध हो सकें जिनके सम्बन्ध मे तथ्यो का सकलन मात्र भी उपादेय हो, किन्तु ऐसी स्थितिया न के बराबर होगी । पी एच डी उपाधि के लिए सम्भवत उन अछूते विषयो के सम्बन्ध मे तथ्यो का सग्रह भी मूल्यवान हो सकता है किन्तु निरुपाधि शोध, जिसका लक्ष्य यथार्थ ज्ञान का प्राप्त करना होता है, तथ्य सकलन से कभी सतुष्ट नही होती । ऐसा उच्चकोटि का शोध कार्य तथ्यो के आधार पर बौधिक तर्क विवेचन और नियमितता की सहायता स विशिष्ट सिद्धान्त रचना को लक्ष्य करता है । यही वह स्थिति है जहाँ पहुँच कर अनुसन्धित्सु तथ्यो के पडाव से आगे बढ कर एक प्रामाणिक तत्त्व को प्रतिष्ठित करता है, जो कि उसकी शोध-योजना का परिणाम कहा जा सकता है ।

प्रत्येक विषय अलग-अलग साहित्यक विधाओ और शाखाओ मे सम्बद्ध होने के कारण अनेक प्रकार के तथ्यो को उजागर करता है । सफल शोधार्थी उन अनेक तथ्यो म से विषय की उपयोगिता और प्रामाणिकता के मानदण्ड पर पूरा उतरने वाले तथ्यों को ही चयित करता है । तदोपरान्त इन तथ्यो का विश्लेषण और व्याख्या करते हुए वह उन मूल-भूत सत्यो को खोजने का उपक्रम करता है जिनके सकेत उन तथ्यों म निहित होते हैं । इस प्रक्रिया म उसे अनुमान, कल्पना तर्क और कदाचित् प्रयोग का भी आश्रय लेना पडता है । अध्ययन का यह सघर्ष तब तक शेष नहीं होता, जब तक कि शोधार्थी किसी ऐसे निर्णय पर नही पहुँच जाता, जो विषय के अध्ययन को आगे बढाते हुए विद्वानो के वर्तमान ज्ञान मे वृद्धि करता है । तथ्यो का वर्गीकरण,

तर्क-युक्त सुव्यवस्थित मीमांसा, विश्लेषण-संश्लेषण आदि इस प्रकार के अध्ययन के अनुवर्ती तत्व हैं।

अनुसन्धान के रूपायित होने में कतिपय विशिष्ट अर्हताएँ निहित हैं। विद्वानों ने ज्ञान सामग्री से अज्ञान की ओर बढ़ने को सर्वप्रथम अर्हता स्वीकार किया है। मूलतः चयित तथ्य ज्ञान सामग्री होते हैं और अनुसन्धान के निष्कर्ष अब तक का अज्ञात ज्ञान बन जा सकते हैं। अनुसन्धित्सु तथ्यों के चिन्तन-मनन और विश्लेषण-मूल्यांकन के द्वारा जिन सत्यों का उद्घाटन है, वे कालक्रम अनुसार भविष्य में ज्ञात-तथ्य हो जाया करते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञात तथ्यों में अज्ञात की खोज निरन्तर होती रहती है और प्रत्येक अज्ञात तथ्य ज्ञान बन जाने के उपरान्त किसी अन्य अज्ञात विधि का संकेत देता रहता है। इस दिशा में दूसरी अर्हता है, निरीक्षण और परीक्षण। अनन्त तथ्यों में से विषय की निश्चित परिधि को सम्पन्न करने के लिए कुछ चुने हुए प्रामाणिक तथ्य ही उपादेय होते हैं। इन तथ्यों का सही चुनाव 'निरीक्षण' कहलाता है। निगमन-तर्क प्रणाली के अनुसार जो तथ्य कल्पना के घेरे में भी उपयुक्त नहीं बैठता, वह त्याज्य है। जो तथ्य उपहास, व्यंग्य और विसंगति के द्योतक होते हैं, वे भी निरीक्षण में सहयोगी नहीं होते। कवयित्री मीराबाई के जीवन चरित पर शोध करने वाले व्यक्ति के लिए ऐसे तथ्यों का चुनाव कि राजा ने मीरा को विष का प्याला दिया ही नहीं था, वह तो प्रजा का मुख बन्द करने के लिए आडम्बर रचा गया था, सत्योद्घाटन में प्रतिकूल बैठेंगे। ऐसे तथ्यों को कल्पना के अन्तर्गत रखा जा सकता है, किन्तु प्रमाण का मानदण्ड ऐसी कल्पनाओं का खण्डित कर दिया करता है। निरीक्षण के समय शोधार्थी को दो अन्य बातों का ध्यान रखना अपेक्षित है—(1) शोधार्थी से पूर्व के शोधकर्त्ताओं ने क्या स्थापनायें की हैं ?, (2) उन स्थापनाओं में कौनसी ऐसी न्यूनताएँ हैं जिनकी पूर्ति नये तथ्यों के विश्लेषण और व्याख्या से सम्भव है। इन दोनों आधारों के अनुसार सामग्री संकलित करने के उपरान्त 'परीक्षण' का कार्य आरम्भ होता है। अध्येता उपलब्ध तथ्यों का परीक्षण करता है। उसके पास अनेक मानदण्ड हैं, पूर्व लेखकों के कथन विद्वानों के आप्त वाक्य, ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमियाँ, नवीन परिकल्पनाएँ, अनुपलब्ध किन्तु प्रामाणिक तथ्य, अनुमान प्रमाण तथा सहयोगी चिन्तन आदि। इन मानदण्डों पर परखते हुए वह अपने अध्ययन को आगे बढ़ाता है। तथ्य के ग्राह्य न होने पर वह उसकी अस्वीकृति का कारण प्रस्तुत करता है और स्वीकृत तथ्य की उपयोगिता वह प्रतिष्ठित करता है। इस स्थापना के लिए व्याख्या उसकी प्रक्रिया में सहयोगिनी होती है। इसीलिए 'व्याख्या' को भी एक अर्हता स्वीकार किया जाता है। किसी भाव को भाव-स्तर से तर्क-स्तर तक लाने के लिए जिस बौद्धिक ऊहापोह की सहायता ली जाती है, वह व्याख्या कहलाती है। इसी व्याख्या के कारण साहित्य में नवीन अनुसन्धान की सम्भावना सदैव बनी रहती है।

अध्ययन की वैज्ञानिकता उपर्युक्त अर्हताओं से वृद्धि पाती है, किन्तु इसका शुभारम्भ बड़ा वैचित्र्य-पूर्ण होता है। अध्ययन में रुचि रखने वाला कोई भी व्यक्ति अनेक धाराओं और साहित्यिक उपविद्याओं का अध्ययन करता है। इस प्रकार की पढ़ाई-लिखाई के अन्तर्गत उसका कोई निहित उद्देश्य न भी हो, तो भी परोक्षतः ज्ञान-वृद्धि तो होती ही है। इसी दौर में कोई ऐसा विषय उसके मस्तिष्क में कौंधता है जिस पर व्यवस्थित चिन्तन के लिए वह विवश हो उठता है। वास्तव में यह विषय उसके भीतर अध्ययन को सोद्देश्य बना देता है, उसकी निरुद्देश्यता समाप्त हो जाती है। वह अकस्मात उक्त विषय विशेष को अपने अध्ययन का केन्द्र बिन्दु बनाकर, सम्बद्ध सामग्री का अवलोकन करने लगता है। धीरे-धीरे एकत्रित होने वाली यह सामग्री उसके मन मस्तिष्क पर एक निश्चित विषय बनकर छा जाती है। उस विषय में उसकी रुचि ही नहीं बढ़ जाती, वरन् वह उससे सम्बद्ध परिकल्पित और यथार्थ हर प्रकार के तथ्यों का संग्रह करने लगता है। यही वह स्थिति है जहाँ अनुसन्धान का बीजवपन होता है। इसी से अनुसन्धान रूप लेने लगता है।

(ख) अनुसन्धान का प्रयोजन

किसी भी कार्य का अस्तित्व उसके प्रयोजन सम्बन्धी प्रश्न चिह्न बनकर उभरता है। साहित्यिक अनुसन्धान की क्या अपेक्षा है? साहित्य में अनुसन्धान क्यों किया जाना चाहिए? क्या साहित्यिक शोध समय का अपव्यय नहीं होगा? ऐसे प्रश्न हैं, जिनका समाधान सम्भवतः सुगमता पूर्वक नहीं हो सकता। वास्तव में प्रश्न पदार्थ-वादी चिन्तकों द्वारा उठाये जाते हैं। उनका कहना है कि विज्ञान में होने वाली शोध के परिणाम स्वरूप हम अधिक सुखद जीवन व्यतीत करते हैं अधिक सुविधाएँ प्राप्त करते हैं और शत्रु विनाश की सुगम विधियाँ भी खोज निकालते हैं, किन्तु साहित्यिक शोध में वर्षों का समय लगने के उपरान्त यदि सूरदास के जन्मकाल अथवा तुलसीदास के जन्म-स्थान का निश्चय कर भी लिया जाय तो उससे मानवीय मूल्यों में क्या वृद्धि होने वाली है? किन्तु यह एकांगी दृष्टि है। इसके विपरीत की दृष्टि, जो पार्थिव भी है और अपार्थिव होने का भी दावा करती है, पदार्थ वादियों के इन प्रश्न चिह्नों को उनकी पथ-भ्रष्ट आत्यन्तिकता स्वीकार करती है। शोध कर्त्ता की साहित्यिक स्थापनाओं में भी उसके लिए धन और यश प्राप्ति जैसी पार्थिव उपलब्धियाँ मौजूद हैं। लेकिन इससे भी ऊपर पुरातन साहित्य का सर्वांगीण अध्ययन सामाजिक विज्ञानों के अनेक सोपानों का उद्घाटन करता है। इतिहास राजनीति, अर्थ धर्म की व्यवस्थाएँ, साहित्यिक शोध में से उजागर होती है। यही कारण है कि साहित्यिक अनुसन्धान का मूल प्रयोजन अतीत की महत्ता को खोजने और स्थापित करने से सम्बद्ध है। आज किसी टूटे हुए पुराने पात्र पर बने हुए चित्र को तो हम संग्रहालय में सजोने जाते हैं, जोकि निर्जीव है, चेतना रहित है और शायद उस चित्र से अधिक उसमें आनन्द का कोई आधार नहीं हो सकता। दूसरी ओर पुराने ग्रन्थ हैं, जिनकी

सामग्री में पुरातन विद्वानों की चेतना आज भी बोलती है, उनका एक-एक अक्षर न केवल अपने समय का उद्घाटन करता है बल्कि रचयिता की आत्मा को प्रतिपादित करते हुए काव्यानन्द का कारण बनता है, ऐसी निधियाँ क्या त्याज्य हो सकती हैं ? उन पर व्यय किया गया समय क्या अकार्य हो सकता है ?

यह सही है कि अनुसन्धान का उचित क्षेत्र पुरातन साहित्य ही होना चाहिए। आधुनिक साहित्य अनुसन्धान का नहीं मूल्यांकन और समीक्षा का विषय हो सकता है। जो विधाएँ निरन्तर परिवर्तनशील हैं, जो लेखक नवीन चिन्तन से बराबर प्रभावित हो रहे हैं अथवा जो साहित्यिक सिद्धान्त अपने लिए नवीन दृष्टियों का सर्जन कर रहे हैं, उन पर किया हुआ कोई भी शोध कार्य पूर्ण तो दूर अनुपादेय कहा जायेगा। जिस लेखक के हाथ में आज भी लेखनी मौजूद है, वह किसी भी समय अपनी ही पूर्व-स्थापित धारणाओं को बदल सकता है। इसीलिए साहित्यिक अनुसन्धान के प्रयोजन रूप में हम पुरातन साहित्य के अध्ययन को अधिक महत्त्व देते हैं। अनुसन्धान की दृष्टि यदि सदैव अज्ञात तथ्यों की खोज पर रहे तो उसकी स्थापनाओं का प्रयोजन स्वलक्षित होगा। यदि वह अपने आप को केवल मूल्यांकन तक ही सीमित कर लेगा, तो उसकी रचना आलोचना की एक सामान्य पुस्तक हो सकेगी, उसमें शोध के तत्त्वों की उपलब्धि नहीं होगी। पुरातन साहित्य की चेतना को पहचानना, उसके मूल-भूत लक्ष्यों का उद्घाटन करना, उसका समुचित रसास्वादन करवाना—निश्चय ही लोगों की मानसिक भूख का शमन हो सकता है। क्या मानसिक और आत्मिक स्तर की इस उपादेयता को उपेक्षित माना जा सकता है ? क्या साहित्यिक शोध के प्रयोजन रूप में यह अपार्थिव तथ्य अनुकरणीय नहीं है ?

(ग) अनुसन्धान में तथ्यों का उपयोग :

अनुसन्धान के प्रतिपादन में तथ्यों का संकलन, परीक्षण और सही उपयोग अनिवार्य है। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए यह एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा शोध की अथ और इति को मिलाया जाता है। तथ्यों को प्रामाणिकता की तुला पर तौल कर जब शोधार्थी लक्ष्योन्मुख होता है, तो उसकी निष्ठा प्रतिभा और कौशल का योग तथ्य में से सत्य की स्थापना करता है। तथ्य वे मूल संकेत हैं, जिनके प्रयोग से सत्य की जानकारी प्राप्त होती है। सत्य शाश्वत है और तथ्यों के अभाव में भी विद्यमान रहता है, किन्तु उसकी अपरिमितता सामान्यतः किसी एक जिज्ञासु के लिए ज्ञेय नहीं होती। प्रत्येक जिज्ञासु अन्धों द्वारा हाथी की अनुभूति जैसी आंशिक सफलता ही प्राप्त कर पाता है और सत्य का बहुत बड़ा अंश उसके लिए अज्ञात ही बना रहता है। शोध की इसी प्रक्रिया में जितने-जितने तथ्य अलग-अलग जिज्ञासु के हाथ लगते हैं, उतनी ही मात्रा में उसे सत्यांश उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सत्यान्वेषण का क्रम शोध के क्षेत्र में सदैव बना रहता है और एक जिज्ञासु के द्वारा की गयी सत्य

की प्रामाणिक प्रतिष्ठा दूसरे के लिए तथ्य मात्र बन जाती है। ऐसे ही तथ्य भावी शोध का आधार होते हैं।

इन तथ्यों को वर्गीकृत कर शोधार्थी अपना कार्य आरम्भ करता है। प्रत्येक वर्ग को चिन्तन-मनन, निरीक्षण-परीक्षण, परिकल्पना और अनुमान के धरातल पर जाचा परखा जाता है, और उसमें से एक समग्र निष्कर्ष बनता है। यही निष्कर्ष अनुसन्धाता की मौलिक देन कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए अनुसन्धाता अन्त साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के तथ्यों का अवलोकन करते हुए किसी भी लेखक की मनोदशा और व्यक्तित्व को प्रस्तुत कर सकता है। तुलसी के काव्य में राम के द्वारा शिव के प्रति बहुधा श्रद्धा भक्ति की पंक्तियों को रखते हुए तुलसी की समन्वयवादी मनोदशा और शिव के प्रति अपने इष्ट की ही तरह रागात्मक सुभाव के अनुमान लगाये जा सकते हैं। तुलसी के भाषायी तथ्यों को विश्लेषित करते हुए हम देखते हैं कि वह बादशाह (रावण) का चित्रण करते हुए अरबी, फारसी की शब्दावली का प्रयोग करता है। जिससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कवि मुस्लिम और हिन्दू संस्कृतियों को जुदा करके देख रहा है और इस्लाम का वेद विरोधी संस्कृति मानकर उसके प्रति राजाराम की धर्म-विजय प्रस्तुत करना चाहता है। उसकी निजी परिस्थितियों में हिन्दू साम्राज्य के नेता महाराणा प्रताप और मुस्लिम विस्तारवादी नीति के नेता अकबर का संघर्ष उसकी शब्दावली के सामान्य तथ्यों को इतिहास के प्रामाणिक तथ्यों के साथ रखकर अनुसन्धाता अनुमान प्रमाण के आधार पर उक्त निष्कर्ष पर पहुँचता है। यह तथ्यों के प्रयोग का एक आकर्षक और सुयोग्य उदाहरण हो सकता है।

शोधार्थी इन तथ्यों की जाँच पड़ताल करते हुए पूर्ववर्ती अनुसन्धित्सुओं की स्थापनाओं को विशेष महत्त्व देता है। इसमें उसकी निजी अनुभूतियाँ, सामान्य ज्ञान और जगत बीती भी सहायक होती है। न्यूटन ने जब पेड़ से सेब गिरता देखा होगा, तो वह उसकी अनुभूति मात्र ही था। उसे साधारण ज्ञान भी होगा, कि पेड़ से झरने (गिरने) वाला सब सदैव धरती पर ही आता है, ऊपर की ओर नहीं उठता। दूसरों की अनुभूति भी जग-बीती के रूप में यही थी, किन्तु धरती के गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त कोई नहीं जानता था। न्यूटन ने सेब का गिरने को अपनी जाँच के लिए तथ्य रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार के अन्य तथ्य भी उसके सम्मुख रहे होंगे। जाँच के एक अंग के रूप में उसने जो प्रयोग किये गये उनके परिणाम भी उसके संकलित तथ्यों की पुष्टि करते रहे होंगे। निष्कर्षत उसने गुरुत्वाकर्षण की परिकल्पना की होगी और विरोध में कोई अन्य चिन्तन न पाकर इसे सिद्धान्त रूप में मानव की ज्ञान वृद्धि के लिए प्रस्तुत किया होगा। उसका शोध निष्कर्ष उन तथ्यों को आज भी अपनाये हुए है और उसके द्वारा सत्योद्घाटन को आज भी प्रत्येक भौतिक विज्ञानी स्वीकार करता है। बहुत सम्भव है कि भविष्य में धरती के इस गुरुत्वाकर्षण वाले

सिद्धान्त को तथ्य बनाकर कोई अन्य वैज्ञानिक किसी नवीन सत्य की प्रतिष्ठा करे। अत: स्पष्ट है कि तथ्यों का सकलन उनका वर्गीकरण और उनके सम्बन्ध मे चिन्तन-मनन-परीक्षण आदि से अनुसन्धान को दिशा प्राप्त होती है और शोध क्षेत्र मे नये आयामो की स्थापना सम्भव होती है।

(घ) अनुसन्धान तथा समालोचना

ये दोनो शब्द अलग-अलग धात्वर्थ लिये हुए हैं। इसीलिए दोनो को पूर्णत एक ही अर्थ मे स्वीकार करना शायद अनुचित होगा। इसमे सन्देह नही कि अनुसन्धान की प्रक्रिया और आलोचना की प्रक्रिया बहुत दूर तक समानान्तर रहती है। किन्तु अनुसन्धान मे तथ्यान्वेषण की प्रधानता होती है जबकि समालोचना मे तथ्याख्यान प्रमुख रहता है। यह भी सही है कि वर्तमान आलोचना केवल तथ्य की व्याख्या से ही सन्तुष्ट नही होती, उसको पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के लिए युग की परिस्थितियो, लेखक की रचना-धर्मिता और उसके व्यक्तित्व को भी आश्रय दिया जाता है। केवल परिस्थितियो के अध्ययन मे ही अनेक साहित्येतर शास्त्रो का सहयोग लेना पडता है, इतिहास, अर्थशास्त्र, भौगोलिक स्थितियाँ, राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना पडता है, व्यक्तित्व के लिए मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र का आधार लेना पडता है, रचना-धर्मिता का अध्ययन साहित्यकार के चेतन और अचेतन के वातावरण की जानकारी के बगैर सम्भव नही—तात्पर्य यह है कि आज समालोचना भी अनुसन्धान के बहुत निकट की विधा बन चुकी है, फिर भी वह अनुसन्धान नही है।

धात्वर्थ की दृष्टि से अनुसन्धान की व्युत्पत्ति 'धा' धातु से हुई है जिससे 'सन्धान' शब्द बनता है और जिसका अर्थ किसी विशिष्ट तत्व को लक्षित करना होता है। इसीलिए अनुसन्धाता अपने विषय को एक सीमित घेरे मे रखते हुए उसी पर निशाना लगाने के लिए आगे बढता है, जबकि समालोचना शब्द की व्युत्पत्ति 'लुच्' धातु से हुई है, जिसमे 'लोचन' शब्द बनता है, जो सर्वांगीण निरीक्षण का अर्थ देता है। समालोचक पठित रचना से प्रभाव ग्रहण करता है, उसकी समुचित व्याख्या करता है, और उसका निजी दृष्टि से मूल्याकन करता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि समालोचक रचना और रचनाकार के प्रति पाठको की रुचि का निर्देश करता है, जबकि अनुसन्धान पूर्णत निर्लेप और निष्पक्ष रह कर अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करता है। सामान्य पाठक उससे सहमत हो या न हो, इसकी उसे विशेष चिन्ता नही होती।

डा नगेन्द्रजी ने एक बडा मौलिक प्रश्न उठाया है कि आलोचना को कला कहा जाना चाहिए या विज्ञान और उसका उत्तर भी उन्होने स्वय ही दिया है—"आलोचना कला का विज्ञान है"। विद्वान आचार्य का मत है कि आलोचना यदि कविता, नाटक, कहानी की तरह रस का साहित्य नही तो आधुनिक विज्ञानों की

तरह उसमे कोई वैज्ञानिक पैठ भी नही। फिर भी क्योंकि आलोचक आलोच्यकृति से प्रभाव ग्रहण करता है और तब उसे आत्माभिव्यक्ति देता है, वह कला बन जाती है। आत्माभिव्यक्ति अथवा कला तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवार्य गुण है, किन्तु साहित्यक अनुसन्धान मे उसका महत्त्व गौण होता है।[1] यह सही है कि अनुसन्धान और आलोचना दोनो साहित्य के अविभाज्य अग हैं। दोनो की पद्धति भी बहुत कुछ मिलती-जुलती है किन्तु चूकि आलोचना व्याख्या विवेचन द्वारा मर्म को अनुभूति देती है और अनुसन्धान का उद्देश्य केवल ज्ञान-वृद्धि होता है, इसलिए दोनो मे एक कभी न पट सकने वाला अन्तर सदैव मौजूद रहता है। समालोचना के अनेक ऐसे प्रकार भी है, जिन्हे किसी भी दृष्टि से शोधात्मक नही कहा जा सकता जैसे गुण-दोष पृथीकरण आलोचना, व्याख्यात्मक आलोचना आदि। शैली वैज्ञानिक, भाषा वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय अथवा लोकतात्विक अनुसन्धान ऐसे अनुसन्धान भी हैं, जिनमे आलोचनात्मक स्थिति नही होती।

जब कोई समालोचक आलोच्य विषय के अध्ययन में साहित्य शास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्रो का सहारा लेता है तो वह आलोचक अपनी रचना को अनुसन्धानात्मक बना देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओ में प्रायः तुलसी, जायसी, भारतेन्दु आदि कवियो की रचनाओ का रसास्वादन करवाने का प्रयास किया गया है, लेखक आलोच्य कवियो की रचना म मर्मोद्‌घाटन करता है तथ्याख्यान करता है और पाठक के सम्मुख रचना के गुण दोषो की चर्चा करते हुए प्रभाववादी निर्णय देता है। इसीलिये वे रचनायें समालोचना का अग हैं, किन्तु तुलसी अथवा जायसी पर शोध-कार्य करने वाला विद्वान उनकी रचनाओ मे उपलब्ध तथ्यो एवम् इतिवृत्तो को 'प्रतिज्ञा' बनाकर निर्लेप दृष्टि से 'निगमन' की ओर बढता है। आलोचना मे ऐसा नही होता।

अनुसन्धाता तथ्यानुशीलन और तथ्य-चिन्तन के द्वारा अज्ञात अथवा अल्पज्ञात विषय को ज्ञेय की परिधि मे रखता है। जबकि आलोचक तथ्याख्यान और विवेचना द्वारा ज्ञात साहित्य का रसास्वादन करवाता है। प्रभाव ग्रहण के कारण आलोचक कृति के प्रति सम्वेदनशील होता है जबकि अनुसन्धाता निस्सग दृष्टि रखता है। फिर भी अनुसन्धान की शैली मे आलोचना के गुण भी होने चाहिए तभी पुष्ट प्रतिपादन सम्भव हो सकता है और आलोचना की शैली म अनुसन्धानात्मक पद्धति को ग्रहण किया जाए तो आलोचना का प्रभाव बढ जाता है।

---

1. डा. नगेन्द्र के लेख 'अनुसन्धान और आलोचना' पर आधारित।

अध्याय 2

अनुसन्धान के प्रकार

मनुष्य ने अनुभव क्षेत्र मे आज तक जो अनवरत साधना की है, उसके परिणाम स्वरूप अनेक प्रकार का ज्ञान उसने संचित किया है। इस संचित ज्ञान मे आज भी अगणित ऐसे तत्त्व निहित होगें, जिनके सम्बन्ध में मनुष्य की अदम्य जिज्ञासा उसे अनुभव क्षेत्र को और विस्तृत करने और निहित तत्त्वों को विहित बनाने की प्रेरणा देती होगी। यही कारण है कि आज मनुष्य, जब नवीन अनुसन्धान की ओर बढ़ता है तो उसके क्षेत्रो की अनेकता प्राय उसके शोध-कार्य की विभिन्नता प्रकट करती है और यही विभिन्नता अनुसन्धान के अलग अलग प्रकारों की प्रतिष्ठा करती है। इन विभिन्न प्रकारो का वर्गीकरण सामान्यत हम उद्देश्य, कला और प्रयोग की दृष्टियो मे कर सकते हैं। उद्देश्य की दृष्टि से शोध को सामान्यत दो भागो में विभाजित किया जा सकता है—सिद्धान्त का गढ़ना जिसमे शुद्ध शोध भी कहते है सिद्धान्त को व्यवहार मे व्यक्त करना, जिसे व्यवहारिक शोध भी कहा जा सकता है। सिद्धान्त के गढने मे प्राय पूर्वोपलब्ध तथ्यो के आश्रय एक निश्चित सिद्धान्त बना लिया जाता है, जैसे यूनानी त्रासदियों के अध्ययन से अरस्तू ने त्रासदी सम्बन्धी सिद्धान्त बनाये। आगे आने वाले जिज्ञासु जब इन सिद्धान्तो के सहारे नाट्य रचनाओ का अध्ययन करते हैं, तो वह व्यवहारिक शोध होती है।

कला सम्बन्धी शोध कई प्रकार से की जा सकती है। किसी कृति मे से ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक तत्वो का बीनना भी कलात्मक शोध है और रचना के ऐतिहासिक राजनीतिक, सामाजिक अध्ययन को भी कलात्मकता की परिधि म रखा जा सकता है। तथ्याख्यान सम्बन्धी अनुसन्धान भी कलात्मक कहलाता है। इसम एक विशिष्ट रचना की नवीन व्याख्या भी सम्मिलित है और विभिन्न रचनाओ के प्रवृत्ति-जन्य तत्त्वो का सर्वेक्षण भी लिया जा सकता है। तथ्याख्यान या व्याख्यात्मक शोध कला की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके माध्यम से शोधार्थी अपने चिन्तन मनन को नवीन व्याख्याओ द्वारा न केवल अभिव्यक्ति देता है, बल्कि धारा विशेष के सम्बन्ध में विश्लेषण, सश्लेषण और निर्णय भी प्रस्तुत करता है। वैज्ञानिक लोग जो प्रयोगात्मक शोध करते है, वे भी कदाचित् कलापूर्ण हो सकते हैं, किन्तु वहा कला का स्वरूप सरचना-सौन्दर्य की अपेक्षा प्रयोग सौन्दर्य से सम्बद्ध होता है। प्रयोगात्मक शोध मे प्राय दो वर्ग बना लिये जाते हैं—सामान्य और नियन्त्रित, और फिर दोनों को एक स्तर पर लाने के उपरान्त नियन्त्रित वर्ग को किसी

बन्धी परिपाटी मे उतार लिया जाता है। ऐसा करने से उसमे जो परिवर्तन आते हैं, और जो सामान्य वर्ग मे सब भी नही होते, उन्हे उस बन्धी परिपाटी का परिणाम मान लिया जाता है। उदाहरणार्थः यदि 'क' और 'ख' वर्गों को एक ही जैसा भोजन और वातावरण दिया जाये तो परिणाम सामान्य होगा, किन्तु इसके साथ-साथ किसी एक वर्ग को कोई औषधि भी सेवन करवाई जाये तो उस वर्ग मे आने वाले परिवर्तन उस औषधि का प्रभाव कहे जा सकेंगे। तात्पर्य यह है कि इस शोध को हम उस औषधि का प्रयोगात्मक सन्धान कह सकते हैं। इसे मनोविज्ञान मे 'एकल विभेद नियम' भी कहा जाता है।

हमारा लक्ष्य साहित्यिक शोध के विभिन्न प्रकारो की जानकारी प्राप्त करना है। मानव के पास आज तक के संचित ज्ञान को रागात्मक, बौद्धिक और पौराणिक खण्डो मे विभाजित किया जा सकता है। इन्ही क्षेत्रो मे जिज्ञासु के लिए अनुसन्धान भी सम्भव है और वह रागात्मक साहित्य सम्बन्धी, बौद्धिक साहित्य सम्बन्धी और पौराणिक साहित्य सम्बन्धी अनुसन्धान कर सकता है। इनमे पारस्परिक सहयोग और सम्मिश्रण भी हो सकता है और किसी एक घेरे के अन्तर्गत रह कर भी अनुसन्धान किया जा सकता है। शुद्ध रागात्मक परिधि के अनुसन्धान को हम लिखित अथवा अलिखित वाङमय से सम्बद्ध कर सकते है। लिखित साहित्य शिष्ट समाज की देन होता है और अलिखित साहित्य लोक तात्विक रचना का नाम है। इन दोनो क्षेत्रो को शोधार्थी अपनी प्रक्रिया का विषय बना सकता है। जहाँ तक तीनो खण्डो के सम्मिश्रण का प्रश्न है, प्राय अनुसन्धित्सु अपनी ज्ञान सीमाओ के अन्तर्गत उसे अपनाते ही रहते हैं। 'प्रसादजी के नाटको मे ऐतिहासिकता', 'दशमग्रन्थ की पौराणिक पृष्ठभूमि', 'रामचरित मानस मे इतिहास-पुराण समन्वय' आदि शोध विषय इसी प्रकार के हैं। 'गुरुनानक काव्य के दार्शनिक तत्त्व', 'कबीर दर्शन' अथवा 'सूर-काव्य मे भक्ति भावना' आदि विषयो मे कविता, दर्शन और धर्म-शास्त्र का सम्मिश्रण हुआ है।

शुद्ध रागात्मक साहित्य सम्बन्धी अनुसन्धान के भी अलग अलग धरातल और अलग अलग तात्विक विषय हो सकते हैं। हम जानते हैं कि किसी भी साहित्य मे भाव तत्त्व, बुद्धि तत्त्व, कल्पना तत्त्व और शैली तत्त्व—ये चार मुख्य अंग को लक्ष्य कर शुद्ध साहित्यिक शोध को रूपायित किया जा सकता है।

भाव तत्त्व सम्बन्धी साहित्यिक शोध—प्रत्येक रागात्मक रचना, वह काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी कुछ भी हो सकती है, किसी विशेष भाव-जगत की उपज होती है। उसमे लेखक के भावो, अनुचिन्तनो, रसात्मक अभिव्यक्तियो और अलौकिक आनन्द की पृष्ठभूमि को स्थान रहता है। ऐसे ही तत्वो को मुख्य रखकर जब अनुसन्धाता किसी कृति विशेष अथवा धारा का शोध-पूर्ण अध्ययन करता है तो वह भाव तत्त्व सम्बन्धी साहित्यिक शोध होती है। 'आधुनिक कविता मे करुण-रस',

'रीतिमुक्त धारा में विप्रलम्भ शृंगार', 'सूर काव्य में वात्सल्य चित्रण' आदि ऐसे भावात्मक विषय हो सकते हैं, जिन पर शोध सम्भव है। औपन्यासिक क्षेत्र में भाव-जन्य शोध हुई है तथा भविष्य में भी अभी सम्भावना है। राष्ट्रीय भावना, प्रेम भावना, विद्रोह भावना, भक्ति भावना, सघर्ष भावना आदि तत्वों का अध्ययन कथा-साहित्य में भी हो सकता है।

कल्पना-तत्त्व सम्बन्धी साहित्यिक शोध—रागात्मक साहित्य में विषय वस्तु कल्पना तत्त्व की देन होती है। यह अनिवार्य नहीं कि विषय-विस्तु कल्पना के द्वारा किसी अस्तित्व में से निकाली जाये। अस्तित्व में रहती हुई कोई घटना कल्पना का आश्रय पाकर एक नवीन वेष धारण कर लेती है और किसी भी सुन्दर काव्य कृति की विषय-वस्तु बन जाती है। विषय-वस्तु से सम्बद्ध साहित्यिक शोध की परिधि वर्ण्य विषय के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक अथवा मनोवैज्ञानिक आधारों के अध्ययन तक व्यापक होती है। इस स्थिति में प्राय. अनुसन्धित्सु रचना अथवा रचनाधारा की कल्पित अथवा यथार्थ भूमियों को अनावृत करता है। उसमें उपलब्ध तथ्यों पर चिन्तन-मनन करते हुए मूल आधार की स्थापना का प्रयास करता है। इस क्षेत्र की कोई भी सफल शोध-कृति शोधार्थी के साहित्येतर ज्ञान की भी परिचायक होती है। कोई अनुसन्धित्सु तब तक उच्चकोटि का विषय-जन्य अनुसन्धान ग्रन्थ प्रस्तुत नहीं कर सकता जब तक कि वह कल्पना के मूल आधारों को नहीं समझ लेता। जब तक समाज, राजनीति, धर्म, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, नीति आदि तत्त्वों की पृष्ठभूमि का ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता, वह रचना की विषय-वस्तु को नहीं समझ सकता। इस प्रसग में डा कामिल बुल्के का शोध ग्रन्थ 'राम कथा एक चुनौती पूर्ण कृति है। अनुसन्धाता विषय-वस्तु की तुलना को भी शोध-विषय बना सकता है जैसे 'रामचरित मानस तथा कम्ब रामायण'। कल्पना तत्त्व से सम्बन्धित साहित्यिक शोध का दूसरा पहलू इतिहास-पुराण से सम्बद्ध भी हो सकता है। जब कभी शोधार्थी कृति की विषय-वस्तु में ऐतिहासिक-पौराणिक तत्त्वों के साथ साथ काल्पनिक तत्त्वों को अलग-अलग करके पडताल करता है तो उक्त दिशा में साहित्यिक ज्ञान वृद्धि होती है।

पाठानुसन्धान भी इसी क्षेत्र की वस्तु है। अज्ञात कृतियों को सही दशा में प्रस्तुत कर सकना पाठानुसन्धाता का विशेष योगदान कहा जा सकता है। कहा जा सकता है कि भाव तत्त्व, विचार तत्त्व अथवा शैली तत्त्व सम्बन्धी अनुसन्धान तभी सम्भव हो सकता है, जब सही पाठानुसन्धान की गई कृतियां अनुसन्धाता के सम्मुख हों। सम्पादक इस कार्य में अनेक विधियों को अपना सकता है। (1) एक ही विषय पर उपलब्ध पाण्डुलिपियों में से किसी प्राचीनतर पाण्डुलिपि के पाठ को प्रमुखता दे सकता है और पाद टिप्पणी में प्रतिलिपि के समय का निर्देश देते हुए पाठ भेदों को प्रस्तुत कर सकता है। (2) समस्त उपलब्ध पाण्डुलिपियों के एक एक चरण की तुलना करते हुए और लेखक की मानसिकता को समझते हुए अनुकूल पाठ निर्धारण करे

सकता है। (3) सम्पादक स्वयं अपनी रुचि के अनुकूल शब्दों, वाक्य-विन्यास तथा उपयुक्त अर्थ को दृष्टि में रखते हुए पाठ निश्चित कर लेता है और साथ-साथ पाद-टिप्पणी में पाठ भेद का संकेत देते चलता है। इस प्रकार का शोध हमारी अनेक संस्थाओं तथा कतिपय व्यक्तिगत विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। सूरसागर, रामचरित मानस तथा पद्मावत आदि रचनाओं का पाठानुसन्धान किया जा चुका है। ध्यान देने की बात यह है कि सम्पादक को विषय का विद्वान होना चाहिए। भाषा के प्रत्येक अंग से परिचित विद्वान ही पाठानुसन्धान का कार्य कर सकता है। भाषा का व्याकरण, उसमें बोलचाल के प्रयोग तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की जानकारी पाठानुसन्धाता के लिए अनिवार्य है। कौन-सा शब्द किस रूप में कहाँ प्रयुक्त होगा, इस ज्ञान के बिना पाठ सम्पादन का कार्य सम्भव नहीं।

विचार तत्त्व सम्बन्धी साहित्यिक शोध—रागात्मक साहित्य में अनेक शास्त्र जन्य तत्त्व भी विद्यमान होते हैं। इन्हीं शास्त्र-जन्य तथ्यों को आधार बना कर अनुसन्धान की प्रक्रिया विचार तत्त्व सम्बन्धी शोध कहलाती है। विज्ञान, दर्शन, धर्म शास्त्र, समाज शास्त्र, काव्य-शास्त्र, संस्कृति अथवा मनोविज्ञान की पृष्ठ भूमियों पर रचना सम्बन्धी गठन का अध्ययन इसी कोटि के अन्तर्गत आता है। 'जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' 'कबीर का दार्शनिक चिन्तन' 'मानस की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि', 'हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि', या 'हिन्दी की सतसई-परम्परा का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन' सरीखे विषय इसी कोटि के हैं। इनमें रचयिता के वैचारिक धरातल अथवा बौद्धिक स्तर का शास्त्रीय विवेचन किया जाता है।

शैली तत्त्व सम्बन्धी साहित्यिक शोध—साहित्यिक रचना का यह चौथा तत्त्व है, *जिसमें प्रवृत्ति तथा अभिव्यंजना-कला की परख की जाती है।* शैलीगत अध्ययन करने वाले अनुसन्धित्सुओं की पकड़ वादों प्रवृत्ति जन्य चित्रणों और भावात्मक निरूपणों के घेरे में रहती है। 'आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियां', 'भक्ति-कालीन कवियों में रहस्यवादी चिन्तन', 'आधुनिक काव्य में निराशावाद अथवा प्रेम निरूपण' आदि ऐसे विषय हैं जिनको अनुसन्धान के लिए शैलीगत परिधि में अपनाया जा सकता है। किसी कृति की अभिव्यंजनागत सुन्दरता अथवा शैली-वैज्ञानिक महत्त्व की स्थापना भी इसी कोटि का शोध होगा। प्राय: काव्य-शास्त्रीय अनुसन्धान जिनमें संरचना सौन्दर्य को प्रमुखता दी जाती है शैली गत ही कहलाता है।

कभी कभी कुछ शोधार्थी कृतियों से सम्बन्धित भाषा अथवा मूल भाषा के अध्ययन को ही अनुसन्धान का विषय बना लेते हैं। भाषा की अभिव्यंजना शक्ति, व्याकरण, सांस्कृतिक देन अथवा भाषा वैज्ञानिक अर्थ-परिवर्तन आदि को विषय बनाकर पुरातन कवियों की भाषा के अध्ययन प्रस्तुत किये जाते हैं। भाषा के अध्ययन की वर्णनात्मक अथवा ऐतिहासिक प्रणालियां, भाषा की विशेष शब्दावली अथवा उसमें शब्द शक्तियों का योगदान इस प्रकार के अध्ययन के विभिन्न तत्त्व हैं। 'सूर की

भाषा', 'पदमावत मे भाषाकीय प्रयोग 'ब्रजबोली का व्याकरण', 'छत्तीसगढ की बोलियाँ' आदि ऐसे विषय हैं, जिन्हे भाषा जन्य कहा जा सकता है और जो शैली तत्व सम्बन्धी साहित्यिक अनुसन्धान का विशिष्ट अ ग है।

पौराणिक, ऐतिहासिक शोध कृति के वर्ण्य-विषय को प्रस्तुत करने के लिए अन्त साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य का अवलम्ब लेते हैं। इस प्रकार की शोध मे अनुसन्धाता कृति मे ऐतिहासिक, पौराणिक तथ्यो का सकलन भी करता है और प्रमाणित ऐतिहासिक पौराणिक तथ्यो के आधार पर कृति का अध्ययन भी करता है। जिसमे मौलिक तथ्यो का उद्घाटन और ज्ञात तथ्यो की नवीन व्याख्या सम्भव होती है। साहित्यिक शोध के उपयुक्त सभी प्रकार अनुसन्धान क्षेत्र के विभिन्न घेरो मे शोधार्थी के लिए चुनाव का अवसर प्रदान करते हैं और अनुसन्धाता इनमे से किसी भी घेरे के अन्तर्गत अपनी प्रतिभा और जिज्ञासा को अभिव्यक्ति दे सकता है।

(क) साहित्यिक शोध

हिन्दी साहित्य म साहित्यिक शोध स सम्बन्धित उपादेयता का प्रश्न हम पीछे हल कर चुके हैं, किन्तु यहाँ यह कहने म हम कोई आपत्ति नही कि साहित्य मानव जीवन क लिए आनन्द का स्रोत है, तो उसके जीवन सम्बन्धी रहस्यो को जानने की जिज्ञासा भी आनन्द तथा ज्ञान की वृद्धि का कारण हो सकती है। साहित्यिक शोध के दो मूल पहलू हैं, जिन्हे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी के शब्दो मे स्थूल और सूक्ष्म अ गो म विभाजित किया जा सकता है। 'स्थूल अर्थों म वह नवीन और विस्तृत तत्वो का अनुसन्धान है, जिसको अ ग्रेजी म Dicovery of facts कहते हैं और सूक्ष्म अर्थ मे वह ज्ञात साहित्य के पुनर्मूल्याकन और नयी व्याख्याओ का सूचक है"[1] पहलुओ के लिए अनुसन्धाता को रचना तथा रचयिता के समूचेपन को हृदयगम करना होता है। यह एक जटिल प्रक्रिया है। सर्वप्रथम अनुसन्धाता को रचना के अन्तर्गत अधीत जीवन और जगत के अनेकमुखी तथ्यो के आकलन, विश्लेषण और चिन्तन मनन की अपेक्षा होती है। लेखक का वातावरण, परिस्थितियाँ तथा सस्कार उसकी रचना मे सहज ही स्थान बना लेते हैं। वास्तव म ये व तथ्य है, जिनसे लेखक की मानसिकता प्रकट होती है और अनुसन्धाता के लिए रचना की व्याख्या का आधार बनती है। रचयिता का परिवेश उसके लिए एक दृष्टिदायी तत्व होता है, जिसका अध्ययन अनुसन्धाता का पथ-प्रदर्शित करता है। अनुसन्धाता के लिए लेखक के मूल परिवेश को जान लेना तथ्याख्यान के लिए उतना ही अनिवार्य है जितना कि नयी रचना की खोज मे उपलब्ध होने वाले सकेत और कथन। यदि अनुसन्धान उपर्युक्त स्थूलकोटि का हो और उसमे किसी अज्ञात रचना को आलोक मे लाने का प्रयास

1 द्विवदी, हजारीप्रसाद (आचार्य), "शोध सामग्री," अनुसन्धान की प्रक्रिया (सम्पादित), डॉ सावित्री सिंहा तथा विजयेन्द्र स्नातक

निहित हो, तो निश्चय ही उसमे सम्बद्ध जो संकेत और यत्र-तत्र रचनाओं मे हुये कथन मिलेंगे, वे मूलकृति की खोज मे अत्यन्त सहायक होंगे। यह तो सही है, कि अनुसन्धाता रचनाकार की कल्पना को ज्यों का त्यों नही समझ सकता, फिर भी उसकी अपनी कल्पना शक्ति इतनी सजीव होनी चाहिए कि वह रचना की परिणति मे प्रयुक्त कल्पना को समझ सके। ऐसा करने से ही कोई अनुसन्धाता साहित्यिक शोध का दावा कर सकता है।

साहित्यिक शोध मूलत रागात्मक साहित्य की शुद्ध प्रक्रिया होती है। पूर्व चर्चा मे हम मानव के संचित ज्ञान के प्रथम खण्ड को रागात्मक साहित्य कह चुके हैं। वास्तव मे इसी कोटि के साहित्य का अनुसन्धान शुद्ध साहित्यिक होता है। इसमे अज्ञात रचनाओं को प्रकाशित करना तथा प्रकाशित रचनाओं मे निहित तथ्यो की नवीन व्याख्यो द्वारा ज्ञान क्षेत्र की वृद्धि करना इस प्रकार के अनुसन्धान का लक्ष्य होता है। आज ऐसे अनेक संकेत उपलब्ध है कि भारत की अनेक प्रान्तीय भाषाओं मे मध्यकाल मे विपुल ब्रज भाषा साहित्य रचा गया, जो कि प्राय उन प्रान्तीय भाषाओ की लिपियो मे ही लिखा गया। धीरे-धीरे समय की धूल उस साहित्य को इसलिए लील गई कि बाद के प्रान्तीय विद्वानो ने उसकी उपेक्षा कर डाली। वर्तमान काल मे कोई विद्वान यदि उस सम्पन्न साहित्य के सम्बन्ध मे उपलब्ध संकेत पाकर उसकी खोज का प्रयास करता है तो उसे ऐसी पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हो सकती हैं, जो क्षत-विक्षत, अपूर्ण और उपेक्षित पड़ी हो। अब उस विद्वान का लक्ष्य उन अज्ञात पाण्डुलिपियो को प्रकाश लाने का हो सकता है। वह पाण्डुलिपि विशेष से सम्बन्धित अन्य प्रतिलिपियो की खोज करता है, एक दूसरे से मिलता है, कवि सम्बन्धी जानकारी संकलित करता है, अन्तर्साक्ष्य और वहिर्साक्ष्य के बल पर कवि का समय, स्थान और रचना-प्रेरणा को निश्चित करता है और उस कृति को साहित्य जगत के अन्य पाठकों के लिए उपलब्ध बनाता है। यह साहित्यिक शोध का अज्ञात को ज्ञात बनाने वाला प्रग है जिसमे 'Discovesy of facts' का तत्त्व मुख्य है। अब साहित्यिक शोध की दूसरी मंजिल प्रारम्भ होती है। दूसरा अनुसन्धाता खोजी हुई इस रचना के अध्ययन और व्याख्यान द्वारा रचनाकार की भावभूमि, सरचना धर्मिता, कृति का कलात्मक सौन्दर्य, भावाभिव्यंजना और शैलीगत अभिव्यक्तियो को साहित्य जगत के सम्मुख प्रस्तुत कर पाठको के लिए कृति विशेष मे न केवल रुचि पैदा करता है प्रत्युत रचना को समझने के लिए एक नयी दृष्टिदान देता है। सम्भव है कोई अन्य या कोई तीसरा अनुसन्धाता उसी कृति के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक पक्ष का शोध पूर्ण अध्ययन कर कृति सम्बन्धी कतिपय नवीन दृष्टियो को उजागर करे। यह क्रम निरन्तर तब तक चल सकता है, जब तक कि वह कृति समस्त पक्षो और पहलुओं से पूर्णतया निरीक्षित, परीक्षित न हो जाये। यह स्थिति धाराओं के साथ भी चल सकती है। 'गुरमुखी लिपी म उपलब्ध हिन्दी काव्य'' एक ऐसा शोध ग्रन्थ है जो हिन्दी जगत के

लिए अज्ञात साहित्य को ज्ञात बनाता है, किन्तु साहित्य उपलब्ध नहीं करवाता। वहाँ से संकेत प्राप्त कर कुछ विद्वान उक्त साहित्य को लिप्यंतरित और सम्पादित कर साहित्य जगत के लिए प्राप्य बना सकते हैं, यह भी प्रथम कोटि की शोध होगी और उसके बाद आने वाले अनुसन्धाता इस प्राप्य साहित्य का सूक्ष्म अनवीक्षण कर इसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाल सकते हैं, यह दूसरी कोटि की शोध होगी।

साहित्यिक अनुसन्धान वास्तव में तथ्यों के माध्यम से सत्य की प्रतिष्ठा तक पहुँचने की प्रक्रिया का नाम है। तथ्य अज्ञात भी हो सकते हैं और निहित भी। अज्ञात तथ्य अनुपलब्ध रचनाओं से सम्बन्धित होते हैं और निहित तथ्य उपलब्ध कृतियों से सम्बन्धित होते हैं। अज्ञात तथ्यों को ज्ञात करवाना और निहित तथ्यों को विहित करना साहित्यिक अनुसन्धान का लक्ष्य है। यह सही है कि साहित्यिक कृति में निहित तथ्य साहित्येत्तर भी हो सकते हैं। उनसे सम्बन्धित शोध साहित्य सम्बन्धी तो हो सकती है, पर शुद्ध साहित्यिक नहीं। शुद्ध साहित्यिक शोध का घेरा केवल कवि की भावभूमि, संरचनात्मकता, अभिव्यंजना शिल्प, तथा कलात्मक सौन्दर्य तक ही सीमित होता है। रचना में आये बिम्बों, प्रतीकों का अध्ययन, छन्दों और अलंकारों का ज्ञान, भाषा के प्रयोग, शब्द-शक्तियों का सौन्दर्य और भावों और रसों का आस्वादन, शब्द चित्रों का रंगीन सौन्दर्य, प्रकृति चित्रण आदि तत्त्व शुद्ध साहित्यिक शोध के अंग हैं। विषय-वस्तु के अन्य विभिन्न पहलू भी इसी के अन्तर्गत अपनाये जा सकते हैं। आजकल काव्य शास्त्रीय दृष्टि से अथवा शुद्ध शोध की दृष्टि से बहुत कम शोध-प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं, सैद्धान्तिक अध्ययन तो नहीं के बराबर हो रहा है। आधुनिक कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता आदि के संरचना-सिद्धान्तों पर शोध की अपेक्षा है, पूर्वकृत शोध कार्यों के पुनर्मूल्यांकन की पृष्ठभूमि भी परिपक्व हो चुकी है और हमारा विश्वास है कि नवागन्तुक अनुसन्धाताओं को उक्त क्षेत्रों में अपनी योग्यता प्रदर्शित करनी होगी। प्रान्तीय लिपियों के जानकारों को हिन्दी जगत के लिए अज्ञात साहित्य प्रकाशित करना चाहिए ताकि वे आने वाली पीढ़ियों के लिए सूक्ष्म अनुसन्धान की नवीन अमृत सामग्री जुटा सकें।

(ख) भाषा वैज्ञानिक शोध—

उपनिषदों में 'शब्द' को 'ब्रह्म' कहा गया है। शब्द की साधना का स्थूल रूप साहित्य, कला और अभिव्यक्ति के माध्यम से 'भाषा' है। साधनात्मक एवम् व्यावहारिक, दोनों क्षेत्रों में भाषा का अध्ययन अनिवार्य प्रतीत होता है। किसी रचना, साहित्यिक धारा अथवा कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा प्रयोग, अर्थ परिवर्तन, वाक्य विन्यास, रूप और ध्वनि तथा व्याकरण-सम्मतता आदि का अध्ययन जब अनुसन्धान का विषय बनाया जाता है, तो वह भाषा-वैज्ञानिक शोध होती है। मैक्समूलर आदि विद्वानों ने विभिन्न प्रदेशों की भाषाओं अथवा एक ही प्रदेश में भाषाओं के परिवर्तन का अध्ययन करते हुए सर्वप्रथम एक ऐसी मौलिक भाषा की कल्पना की थी जिसे 'भारोपीय' नाम

दिया गया था। इसी अध्ययन को विभिन्न दिशाओं में परिवर्द्धन करते हुए संसार की अनेक भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण किया गया और उसके पश्चात् आधुनिक भारतीय भाषाओं के गम्भीर विवेचन भी हुए। द्रविड परिवार की भाषाओं का अध्ययन किसी फ्रांसीसी विद्वान ने किया। सुनीति कुमार चैटर्जी की रचना 'The Origin and development of Bengli languag' में उत्तर भारत की आधुनिक भाषाओं का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया। डॉ० बाबूराम सक्सेना तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा ने क्रमशः अवधी और ब्रज भाषाओं का भाषावीय अध्ययन प्रस्तुत किया किन्तु इन अध्ययनों में एक बात स्पष्ट है कि भाषा अध्ययन करने वाले उक्त विद्वान सामाजिक व्यवहार, व्याकरण तथा प्रायोगिक रूपों का ही अध्ययन करते रहे हैं। उन्होंने नवीन भाषा-वैज्ञानिक पद्धतियों का स्पर्श नहीं किया। आधुनिक विचारक 'सोसुर' ने यह स्थापना कि है कि भाषा प्रत्येक इकाई के साथ कालगत परिवर्तन को ग्रहण करती है। इसी तथ्य का विचार करते हुए उसने स्वनिम (फ़ानिम) का विचार प्रस्तुत किया। आज इसी तथ्य को लेकर पश्चिमी देशों में बराबर शोध कार्य की प्रगति हो रही है।

साहित्य में वर्ण्य विषय को छोड़कर यदि हम कुछ बचा पाते हैं तो वह भाषा और भाषा का सौन्दर्य ही होता है। इसी भाषा का अध्ययन एक भाषा-वैज्ञानिक शोधार्थी को करना होता है। उसे उपयोगितावाद की दृष्टि से हटकर भाषा का सर्वांगीण विवेचन करना होता है और वह भाषा के अनेकानेक पहलुओं का मनन-चिन्तन द्वारा एक सूत्र में पिरोते हुये आने वाली पीढ़ियों के लिए भाषा का रूप निर्धारित करता है। आधुनिक सोच प्रायः आदिकाल की अवहट्ट और डिंगल विद्यापति की मैथिली, सूर की ब्रज, तुलसी की अवधी और प्रसाद की खड़ी बोली को एकदम हिन्दी भाषा कहने में आपत्ति करती है। यही कारण है कि आज उन भाषाओं की बनावट, रूपों, ध्वनियों, व्याकरण सम्मत विभक्तियों अपभ्रंश दृष्टि से हुए विकास आदि को तर्क-पूर्ण अध्ययन की कसौटी पर परखते हुए निश्चित दिशा में समाहित करना होगा और यह कार्य मात्र भाषा वैज्ञानिक शोधार्थी ही कर सकता है। आज हिन्दी की विभाषाओं में पाये जाने वाले हिन्दी जन्य [illegible] गों और संरचनात्मक तत्त्वों का अन्वेषण कर हमें यह सिद्ध करना होगा कि हम हिन्दी को भाषा के आसन पर बैठाने का प्रयास उसके उन गुणों के कारण कर रहे हैं जो उसकी विभाषाओं में मौजूद नहीं, और यदि हैं तो वह हिन्दी का ऋण है। कौवी, खड़ी बोली, अवधी, ब्रज, मागधी, भोजपुरी आदि विभाषाओं पर हिन्दी का ऐसा घनात्मक आच्छादन है कि वे उसके बिना न तो जीवित रह सकती है और न पनप सकती हैं। इस दिशा में हिन्दी शब्द और हिन्दी भाषा के उदभव और विकास से सम्बन्धित इतनी गहन शोध अपेक्षित है कि अहिन्दी विद्वानों की यह आपत्ति कि ये विभाषाएँ अपने आप में स्वतन्त्र मानी जानी चाहिए, विलीन हो सके। इसके लिए हमें विभिन्न विभाषाओं के विद्वानों का सहयोग चाहिए।

प्राचीन मध्यदेश अथवा समूचे उत्तरापथ में लिखी जाने वाली भाषा को आज हिन्दी कहा जा रहा है तथापि इसके अन्तर्गत अनेक हिन्दी की उप-भाषाएं या बोलियाँ निरन्तर पनप रही हैं। अब तक अवधी, व्रज, भोजपुरी, मैथिली, हरियानवी आदि पर प्रामाणिक शोध कार्य हो चुके हैं, किन्तु उनका रूप या तो आज की प्रायोगिक उपभाषा से सम्बन्धित रहा है या उसके उपभाषा रूप में पनपने से लेकर अब तक के विकास को दर्शाना है। ये दोनों पद्धतियां क्रमश: वर्णनात्मक और ऐतिहासिक कहलाती हैं। वर्णनात्मक पद्धति में, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, भाषा के वर्तमान रूप कि रचना-प्रक्रिया प्रस्तुत की जाती है। भाषा में प्रयुक्त शब्दावली, विभक्तिरूप, ध्वनियां, सन्धि आदि के नियम, प्रत्यय-उपसर्ग आदि का विश्लेषण किया जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि इस प्रकार का भाषाकीय अध्ययन उक्त भाषा के व्याकरण का विश्लेषणात्मक अध्ययन होता है। द्वितीय पद्धति, जिसे हमने ऐतिहासिक नाम दिया है, भाषा के विकास क्रम को उद्घाटित करती है। भाषा-विशेष किन परिवर्तनों, रूप भेदों, ध्वनि भेदों और अर्थ भेदों में से होते हुए वर्तमान रूप को ग्रहण करती है—वास्तव में इसका सतर्क आलोचनात्मक इतिहास ही ऐतिहासिक भाषायी शोध का विषय होता है। आज तक हिन्दी में ज्यादातर भाषा-वैज्ञानिक कार्य इन्हीं पद्धतियों पर हुआ है। 'खड़ी बोली का विकास', 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास', 'हिन्दी भाषा का इतिहास' आदि रचनाएं ऐतिहासिक कोटि की हैं। अवधी तथा व्रज, मागधी, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी, कन्नौजी आदि भाषाओं का अध्ययन वर्णनात्मक कोटि का है।

उक्त दोनों पद्धतियों के अतिरिक्त तुलनात्मक और प्रयोगात्मक दो अन्य पद्धतियाँ भी अपनायी जा सकती हैं। किन्हीं दो समकालीन भाषाओं की संरचना का तुलनात्मक अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो सकता है। तुलना करके भाषाओं की संरचनात्मक समता और विषमता को प्रकट करते हुए शोधार्थी दोनों के बीच एक सेतु निर्माण कर सकता है। कोश-ग्रन्थों में इस तथ्य को विशेष महत्त्वपूर्ण ढंग से अपनाया जा सकता है। प्रयोगात्मक शोध वैयक्तिक न होकर प्राय: संस्थाजन्य होती है। पिछले दिनों रॅमिंगटन रैण्ड इक वालों की संस्था की ओर से हिन्दी टंकन यन्त्र के की बोर्ड की व्यवस्था के लिए एक परामर्शदात्री समिति स्थापित की गई थी। इस समिति के सामने छोटे से छोटे की बोर्ड में हिन्दी की समस्त ध्वनियाँ सम्मिलित करने की समस्या थी। यह प्रयोगात्मक शोध का धरातल है। की बोर्ड का जो निर्णय लिया गया, वही उस अनुसन्धान की स्थापना कहलायेगी। बहुधा मुद्रणालय, तार भेजने के संकेत, शब्द-कोश निर्माण अथवा लिपि सुधार सम्बन्धी शोध इसी कोटि में आती है। हिन्दुस्तानी प्रचार समिति तथा राष्ट्र भाषा प्रचार समिति वर्धा की ओर किए गये लिपि-सम्बन्धी अनुसन्धान प्रयोगात्मक हैं 'ध' और 'घ' 'भ' और 'म' में 'घ' और 'म' को अलग करने के लिए घुण्डी की व्यवस्था, स्वरों की सभी ध्वनियों के लिए

केवल 'श्र' की मात्राएं लगाने की व्यवस्था आदि सुभाव उसी प्रयोगात्मक शोध के परिणाम कहे जा सकते हैं।

भाषा-वैज्ञानिक शोध की उक्त सभी, पद्धतियों में लिया जाने वाला कार्य भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अनेक शाखाओं में विभक्त किया जा सकता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान अनेक उप-विज्ञानों में बट चुका है और उन उप-विज्ञानों में से कोई भी पहलू किसी भी भाषा के अध्ययन से सम्बन्धित शोध-विषय बन सकता है। वर्तमान ध्वनि-विज्ञान में हिन्दी की किसी भी विभाषा अथवा उप-भाषा की ध्वनियों अथवा एकाधिक उपभाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। आज ध्वनिग्राम भी उस अध्ययन के अन्तर्गत प्रवेश पा रहे हैं। अर्थ-विज्ञान इस दिशा में भाषा-विज्ञान का एक अन्य महत्वपूर्ण अंग है। इसका सम्बन्ध शब्दों, शब्दों की व्युत्पत्ति, व्युत्पत्ति जन्य अर्थ, अर्थ-परिवर्तन, पर्यायवाची और विपरीतार्थक शब्दों की दिशाएं, उपसर्गों और प्रत्ययों के प्रयोग आदि से है।

वाक्य-विज्ञान वाक्यों के पद, उपवाक्य और पद-विन्यास के सम्बन्धों का अध्ययन करता है। पदों के क्रम में भाषा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति की मानसिकता निहित होती है। यही कारण है कि वाक्य के प्रयोग में जो पद-क्रम रहते हैं इन पर दिया जाने वाला बल वैयक्तिक भिन्नता लिए हुए होता है। इससे उपन्यास और कविता की भाषा का अन्तर तथा उपन्यासकार और कवि के भावों का सांगोपांग अध्ययन सम्भव हो जाता है। रूप-विज्ञान का अध्ययन करने वाले शोधार्थी भाषा के ऐसे विभिन्न रूपों का अध्ययन करते हैं, जो अर्थ और सम्बन्ध के कारण भाषा की प्रकृति को उद्घाटित करते हैं। दो भाषाओं की तुलना में भी रूप-विज्ञान पर्याप्त सहयोगी होता है।

भाषा विज्ञान के अनुसन्धान की एक और शाखा लिपि-विज्ञान कहलाती है। देश-काल की अपेक्षाओं के अनुसार प्राय किसी भी भाषा की लिपि निश्चित करना अथवा निश्चित लिपि में वैज्ञानिक परिवर्तन सुझाना इस कोटि में अनुसन्धान का विषय है। प्राय लिपि तब तक वैज्ञानिक नहीं हो सकती, जब तक कि भाषा की प्रत्येक ध्वनि के लिए अलग संकेत चिह्न न हों और उन संकेत चिह्नों को टंकन एवम् मुद्रण का सहकार प्राप्त न हो। लिपि के विकास का अध्ययन भी अनुसन्धान का रोचक विषय हो सकता है। ब्राह्मी आदि लिपियों से देवनागरी के उदय का इतिहास अनुसन्धान का विषय बन चुका है।

आजकल प्राचीन ढंग के भाषा के काव्य-शास्त्रीय अध्ययन को नवीकृत कर शैली विज्ञान कहा जाने लगा है। सही शब्द का सही स्थान पर सही प्रयोग जो भावना और अर्थ प्रकृति को सही दिशा में उद्घाटित करता है—इस तथ्य का अध्ययन शैली विज्ञान का शोध विषय रहा है। किसी कवि या किसी साहित्यिक धारा का भाषाकीय विवेचन आजकल शैली-वैज्ञानिक अध्ययन का रूप ले रहा है। केवल लेखकों

या कवियो द्वारा प्रयुक्त शब्दावली के अध्ययन द्वारा शब्दार्थ मे निहित सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा संस्कार की दृष्टियां का अध्ययन भी किया जा रहा है। 'आधुनिक कवियो द्वारा प्रयुक्त शब्दावली' सम्बन्धी डा कृष्ण भावुक का शोध ग्रन्थ इस दिशा मे एक सुपाठ्य रचना है। वर्तमान स्थिति मे भाषा सम्बन्धी अध्ययन प्राय सामान्य विवेचना से सम्बन्धित न होकर भाषा वैज्ञानिक पहलुओ पर आश्रित होने लगे हैं, यह एक महत्वपूर्ण शोध क्षेत्र है जिसमे शोधार्थियो को अग्रसर होना चाहिए। निश्चय ही भाषा वैज्ञानिक शोध के लिए शोधार्थी को प्राचीन ग्रन्थ भाषाओं की जानकारी, अपभ्रंशो का ज्ञान और अध्ययनाधीन भाषा के प्रत्येक पहलू का परिचय होना अनिवार्य है। शोधार्थी के निर्देशक को भी इस दिशा मे भाषाविद् होना चाहिए ताकि वह शोधार्थी को सही मार्ग दर्शन दे सके।

(ग) भाषा सर्वेक्षण की विधि :

किसी क्षेत्र विशेष की भाषा का अध्ययन करने के लिए उस क्षेत्र म बोली जाने वाली भाषा, उपभाषाओ, विभिन्न प्रयोगो, ध्वनियो और रूपो का सर्वेक्षण अनिवार्य होता है। भाषा-सर्वेक्षण किसी एक नियत क्षेत्र म ही सम्भव होता है। इस क्षेत्र को भी सर्वेक्षण की दृष्टि से अलग अलग विभागो मे बाट लेना अनिवार्य होता है। किसी एक बडे नगर का भाषाई दृष्टि से सर्वेक्षण करना हो, तो उसमे के वे स्थल समुदाय रूप में विभाजित करने होंगे, जहा न केवल जनसख्या अधिक होगी बल्कि हर प्रकार के लोगो का गमन भी होगा, उदाहरणार्थ—कोई मार्केट, मण्डी अथवा जन-संस्थान। क्षेत्र का विभाजन करने के लिए सामाजिक, औद्योगिक, धार्मिक दृष्टि से भी स्थान का चुनाव किया जा सकता है। प्राचीन और घनी आबादी वाले स्थान इस कार्य के लिए अधिक उपयोगी हो सकते हैं। जिन स्थानो को सर्वेक्षण की दृष्टि से विभाजित किया जाता है, व एक-दूसरे से समान-दूरी पर होने चाहिए। ऐसे उपेक्षित *स्थान भी इस दृष्टि से सहायक हो सकते हैं, जहाँ नवीनता व आधुनिकता के पाव न* पडे हो। द्विभाषी प्रदेश अथवा ऐसे स्थान जो सार्वलौकिक हो और जहा विभिन्न स्थानो से आने वाले व्यक्ति बस गये हो, भाषा सर्वेक्षण के लिए हितकर हो सकते हैं।

किसी एक प्रादेशिक समुदाय की भाषा में विभिन्न रूपो को एकत्रित करने की आवश्यकता पडती है। भाषा मे परिवर्तन आने के अनेक कारण उसी घेरे मे विद्यमान हो सकते हैं। (1) शिक्षा के ग्रहण करने के कारण भाषा स्तर मे परिवर्तन, (2) दूसरे प्रदेशो से विवाहोपरान्त आई स्त्रिया, (3) दूसरे प्रदेशो की भाषा के सम्पर्क में आने वाले वर्ग, (4) व्यक्तियो के उच्चारण भेद, (5) विभिन्न सामाजिक वर्ग (6) विभिन्न धर्मानुयायी आदि तत्त्व भाषा परिवर्तन के कारण होते हैं और इन सभी तत्त्वो को सम्मुख रख सर्वेक्षण की ओर अग्रसर होना चाहिए।

भाषायी सर्वेक्षण के लिए दो पक्ष मुख्य होते हैं—(1) सर्वेक्षक, (2) सूचक। सूचक एक ही समय मे एक से अधिक भी हो सकते हैं। इन दोनो की योग्यताएं

अलग अलग होती हैं। सर्वेक्षक की योग्यताएं . केवल वही विद्वान जो सर्वेक्ष खण्ड के भूगोल, इतिहास, संस्कृति, उद्योग धन्धों और लोगों के रहन-सहन से परिचित हो एक योग्य सर्वेक्षक हो सकता है। उसे सामग्री संकलन का अभ्यास तथा उसके विश्लेषण की विधि ज्ञान होनी चाहिए। कार्य में रुचि धैर्य संलग्नता, सहिष्णुता तथा भाषावीय प्रयोगों में उसे निपुणता प्राप्त होनी चाहिए। ये सब गुण उसे व्यक्तिगत स्तर पर लाभ पहुंचाने वाले हैं। अधीर और असहिष्णु व्यक्ति कभी भी सूचकों से सामग्री प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि यह कार्य अत्यन्त व्यापक और बोझिल होता है, इसलिए बीच-बीच में विश्राम मनोरंजन अथवा गप्प-शप-सूचक और सर्वेक्षक दोनों के लिए सहायक हो सकती है। सर्वेक्षक को मिलनसार, प्रभावशाली और वाक्-चतुर होना चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार वह अपने घेरे में लोगों को मित्र बना सकें और उनका विश्वास अर्जित कर सके। सूचक के द्वारा प्रस्तुत तथ्यों को बार-बार सुनने के धैर्य और स्मरण शक्ति की भी उसमें अपेक्षा होनी है, लेकिन उस समूची सामग्री का बिना विश्लेषण किये निर्णय लेने की भूल उसे कभी नहीं करनी चाहिए। शीघ्रतावश किसी भी निर्णय पर पहुंचना सर्वेक्षण की हत्या होगी। कदाचित् एकाधिक सूचकों से सहयोग पाने के लिए उसे अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न सूचकों की सेवाएँ प्राप्त करनी होती हैं, अतः बड़ी सावधानी से उसे एक सूचक को दूसरे सूचक से अलग रखना अनिवार्य होना है। ऐसी लिपियां सक्षर्वेक को मालूम होनी चाहिएँ। जिन लिपियों में सम्बद्ध भाषा के माध्यम से मिली सामग्री को लेखबद्ध करना होता है। ऐसी स्थिति आ सकती है, जहाँ कोई विशेष ध्वनि इतर लिपि में प्रस्तुत न की जा सके। गुजराती तथा पंजाबी में ऐसी अनेक ध्वनियाँ हैं जो गुजराती तथा गुरुमुखी के अतिरिक्त अन्य लिपियों में नहीं लिखी जा सकती।

सूचक के साथ व्यवहार करते हुए सर्वेक्षक को पर्याप्त सावधान रहना चहिए। उसके साथ वाद-विवाद में उलझना तथा उसी के मत को सही स्वीकार कर लेना सर्वेक्षण के लिए हानिकारक हो सकता है। प्रायः सूचक को प्रसन्न रखने के लिए उसकी धन, खान-पान, मधुर वचन आदि से उपयुक्त सेवा होनी चाहिए। सूचक के साथ एक-डेढ़ घण्टे से अधिक समय तक निरन्तर कार्य नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि सर्वेक्षक के लिए यह कार्य कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, सूचक के लिए नीरस होता है।

सर्वेक्षक को उन्हीं लोगों से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए जो सर्वेक्ष्य क्षेत्र के अच्छे जानकार हों और एक सफल गाईड का कार्य कर सकें। सूचक की नियुक्ति करते हुए भी इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि सूचक कार्य को बोझ समझकर न करे वरन् स्वेच्छा से उसमें रुचि लें। रुचि उत्पन्न करने के लिए सूचकों को पारिश्रमिक दिया जा सकता है।

सूचक—सूचक केवल वही व्यक्ति उत्तम सूचक हो सकता है, जो सर्वेक्ष्य भाषा को मातृ-भाषा के रूप में बोलता, लिखता, पढ़ता हो। जिसकी मातृ भाषा वह नहीं है, वह व्यक्ति सूचक के रूप में सफल नहीं हो सकता। सर्वेक्षक यदि चाहे तो सूचक को अपने यहां भी बुला सकता है, लेकिन सही बात यही है कि सर्वेक्षक को स्वयं सूचक के स्थान पर जाना चाहिए। सूचक का चुनाव करते हुए तीन बातों का ध्यान रखना अनिवार्य है, 1 सूचक सर्वेक्ष्य प्रदेश के इतिहास और भूगोल से परिचित होना चाहिए। 2 सूचक सर्वेक्ष्य भाषा-भाषी समाज का ही सदस्य होना चाहिए। 3 सूचक यथा-सम्भव पुराने, स्थायी और सांस्कृतिक परिवार से सम्बन्धित होना चाहिए। सूचक का चुनाव उसकी सामाजिक स्थिति, धार्मिक मान्यता, आर्थिक स्तर जातीय और लैंगिक भेदों पर भी किया जा सकता है। कोई पुरानी बुढ़िया अथवा अधिक आयु का बूढ़ा व्यक्ति प्राय: अच्छे सूचक हो सकते हैं। बहुत कम आयु का व्यक्ति सूचक नहीं होना चाहिए। अल्पशिक्षित हो तो उत्तम है। इस कार्य की दिशा में उच्चशिक्षित व्यक्ति प्राय सही निष्कर्ष निकालने में विघ्न बन जाया करते हैं। सूचक को बाह्य प्रभावों से मुक्त होना चाहिए, यथासम्भव बाह्य-प्रदेशों में उसका आवागमन कम हो तो अधिक उपयुक्त होता है। सर्वेक्षक की ही तरह सूचक की स्मरण शक्ति भी पैनी होनी चाहिए। उसका भाषा ज्ञान ठीक हो और वह बिना किसी हस्तक्षेप सूचना को यथातथ्य रूप में सर्वेक्षक तक पहुंचा सके। सूचक के पास कार्य के लिए पर्याप्त समय होना चाहिए, उसे धैर्यवान व सहिष्णु होना चाहिए।

सर्वेक्षण सामग्री एकत्रित करने के लिए एक प्रश्नावली तैयार की जा सकती है। भाषा का सही स्वरूप जानने के लिए प्रश्नावली बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। इसी प्रश्नावली के माध्यम से सूचक से भाषा बानगी प्राप्त की जा सकती है अथवा डाक से यह प्रश्नावली भेजकर भी उपयुक्त सामग्री संकलित की जा सकती है। प्रश्नावली का सम्बन्ध स्थान विशेष की भौगोलिक सीमाओं, ऐतिहासिक विवरणों, मनोरंजन के साधनों, वस्त्राभूषणों, साग-भाजी फल बर्तन तथा मौसमों, विवाह में प्रयुक्त शब्दावली, उत्सवों, पेड़ पक्षियों, खेती-बाड़ी के साधनों, आवागमन के साधनों, प्रदेश में मनाए जाने वाले पर्वोत्सवों आदि से सम्बन्धित हो सकती है। प्रश्नावली बनाते समय स्थूल चीजों पर प्रश्न पहले किए जाने चाहिए और सक्रिय, चल एवम् घटनात्मक तत्त्वों को बाद में उठाना चाहिए। बहुधा भाषा के वैयाकरणिक रूपों, शैलीगत भेदों, मुहावरे, लोकोक्तियों आदि को प्रश्नावली द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए सर्वेक्षक को चुटकले, लोकगीत, लोक-कथाएं, विभिन्न वार्तालाप, सूचकों के संस्मरण आदि अलग से एकत्रित करने होंगे। लड़ाई झगड़े में प्रयुक्त शब्दावली, वाद विवाद या गर्मागर्मी में स्वप्रसूत गालियां अथवा व्यंग्यपूर्ण कथन एकत्रित करने के लिए आकस्मिक स्थितियों की अपेक्षा होगी। प्रश्नावली कितनी बड़ी होनी चाहिए यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके लिए अनिवार्य है कि शब्दावली की भिन्न कोटियां बनाई

जायें और अलग प्रश्न तथा छोटे-छोटे प्रश्नों की सूचियां उन विभिन्न कोटियों अथवा वर्गों के साथ जोड़ दी जायें। ऐसा करने से सूचक के लिए प्रत्येक सूची का उत्तर देने के लिए अपेक्षित मानसिकता जुटाना कठिन नहीं होगा। डा हरदेव बाहरी ने शब्दावली तथा वाक्यावली के एकत्रीकरण के अतिरिक्त कुछ अन्य सामग्री को रिकार्डर (Recorder) अथवा शीघ्र लिपि के माध्यम से गृहीत करने की आवश्यकता पर बल दिया है। उनकी दृष्टि से सामग्री सकलन कर्त्ता को कोई एक लोक-कथा, कुछ लोक-गीत, किसी विवाह का वर्णन, स्त्रियों के वार्तालाप आदि भी रिकार्ड (record) करने चाहिये। कुछ सूचियां यथास्थान-विशेष की जातियों, उपजातियों के नाम, सामान्य नाम-संज्ञाएं, कहावतें, मुहावरे, पहेलियां, कुछ ध्वनि-सूचक शब्द, उच्चारण सम्बन्धी विशेषताएं, प्रचलित विदेशी शब्द आदि तैयार कर लेने चाहिए। इतना सबकुछ कर लेने के उपरान्त सकलित सामग्री के प्रत्येक शब्द का विश्लेषण कर वर्ग तैयार कर लेने चाहिए और प्रत्येक वर्ग में आए शब्दों अथवा वाक्यों का अलग से व्युत्पत्ति मूलक अध्ययन करना चाहिए। ऐसा करने से सर्वेक्षक व्याकरण की दृष्टि के अनुकूल शब्दों की मूल धातुओं, प्रत्ययों और उपसर्गों के प्रयोग द्वारा शब्द रचना, विभक्तियों के प्रयोग से अर्थ-परिवर्तन और भाषा की मूल प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए अपने निष्कर्षों की प्रतिष्ठा कर सकता है। यदि सर्वेक्षक प्रदेश विशेष की मूल-भाषा के अतिरिक्त उस प्रदेश में दखल रखने वाली अन्य भाषाओं से परिचित नहीं तो उसके लिए निश्चय ही प्रचलित शब्दों का उद्गम जानना कठिन हो जायगा। पंजाब में प्रार्थना के लिए सिक्खों में प्रचलित शब्द 'अरदास' का उद्गम तब तक कल्पना भी नहीं किया जा सकता, जब तक कि सर्वेक्षक यहां के इतिहास और मुगल दरबार की पद्धतियों से परिचित नहीं होगा, "अर्ज-दाश्त' क्या कर 'अरदास' बन सकता है, यह जानकारी तभी सम्भव है, जब यहां का सर्वेक्षक यहां की शब्दावली में अरबी, फारसी शब्दों एवम् प्रभावों का पूर्ण जानकार हो।

उपर्युक्त सामग्री के वर्ग बना लेने के उपरान्त सर्वेक्षक अपनी सूझ-बूझ और चिन्तन मनन के द्वारा शोध का धरातल तैयार करता है। एक ही शब्द के अलग-अलग बिम्बों, प्रतीकों और प्रतिबिम्बों को व्याख्यायित करता हुआ वह शब्द-प्रयोग की विधियां और अर्थ भेदों को निश्चित कर सकता है। धर्म, जाति,अथवा आर्थिक स्तर के कारण पृथक शब्दावलियों का पूर्णत अलग परिप्रेक्ष्य में देखना होता है। उसके ऐतिहासिक, पौराणिक धरातल को जानना होता है और साथ ही उन प्रसग-कथाओं का परिचय प्राप्त करना होता है, जो उस सन्दर्भ में कभी प्रचलित रही होंगी। तभी सर्वेक्षक उक्त शब्दावली के सम्बन्ध में किसी सही निर्णय पर पहुंच सकता है।

(घ) साहित्य की समाज शास्त्रीय शोध—

साहित्य और समाज में सदैव एक अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है। साहित्य की प्रत्येक विधा किसी न किसी सामाजिक पहलू पर निश्चय ही प्रकाश डालती है। यह

भी सही है कि समाज का अध्ययन समाज-शास्त्र समाज के अस्तित्व मे आने की आधार-सामग्री से लेकर समाज के विकसित रूपो, सामाजिक आवश्यकताओ, विविध पहलुओ और संस्थाओ का अध्ययन प्रस्तुत करता है। ये ही आधार कदाचित् साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो मे चर्चायित साकेतिक अथवा उत्सर्जित होते हैं। अत जब हम समाज शास्त्रीय शोध की बात करते है तो हमारे सम्मुख साहित्य मे से उभरने वाले दो तथ्य प्रकाश मे आते हैं—एक वह समाज जिसका चित्रण साहित्यकार ने अपनी रचना मे किया है और दूसरा वह समाज जिसकी वह अपनी रचना मे कल्पना करता है।

अभिप्राय यह कि किसी साहित्य विधा पर समाज शास्त्रीय शोध करते हुए दो प्रकार के अध्ययनो को अपनाया जा सकता है। प्राय शोधार्थी समाज के विभिन्न पहलुओ का चित्रण तो साहित्यिक रचना मे से उत्खनित करने मे सफल होते हैं और आज अधिकाश साहित्य-शास्त्रीय शोध इसी पहलू पर हो रही है। दूसरा पहलू अछूता रह गया है। शोधार्थी उस ओर भी ध्यान दे सकते है और एक ऐसे नवीन और साहित्यकार द्वारा अभीप्सित समाज की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं, जो यूटोपिया भी हो सकती है और विद्रोहपूर्ण रूढि-भग समाज भी हो सकती है।

समाज शास्त्रीय शोध के इन दोनो लक्ष्यो का अध्ययन करने के लिए शोधार्थी को अपने समाज का पूर्ण परिचय होना अनिवार्य है। रचना का सम्बन्ध जिस समाज से है, उस समाज के रीति रिवाज परम्पराए पर्वोत्सवो की जानकारी भी शोधार्थी को होनी चाहिए। इस स्थिति मे उसका अध्ययन समाज म नारी की स्थिति, सामाजिक सम्बन्धो का स्वरूप, सामाजिक संस्थाओ का परम्परित महत्त्व और समाज के सीमित घेरो के अन्तर्गत आने वाले रीति रिवाजो का मूल्याकन करना होगा। यदि इससे इतर वह अपने अध्ययन को और अधिक विस्तार देने का प्रयास करें तो उसमे मानवीय सम्बन्धो और इनमे अन्य समाजो की विचार धाराओ के सम्मिश्रण तथा उसके प्रभाव का अध्ययन भी सम्मिलित किया जा सकता है। दूसरा पक्ष जो शोधार्थी अछूता छोड देते हैं—उसका अध्ययन एक पृथक प्रभाव के रूप मे किया जाना चाहिए। साहित्यिक विधा मे उत्सर्जित होने वाले समाज की एक झाकी इसमे प्रस्तुत की जा सकती है। लेखक समाज मे क्या परिवर्तन चाहता है ? पुरातन परम्पराओ और रूढियो से अलग रहकर वह कौन सी नवलताओ को समाज का अ ग बना देखना चाहता है ? अथवा उसकी विद्रोह भावना समाज के किन गलित अ गो की शल्य क्रिया कर उसमे स्वास्थ्य-बीजारोपण करना चाहती है, ये तीनो ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिनका उत्तर यदि शोधार्थी खोज सकें और अपने शोध-ग्रन्थ को महत्त्वपूर्ण सामग्री बना सकें, तो उसके समाज शास्त्रीय अध्ययन म एक विशेष सार्थकता आ सकती है।

समाज शास्त्रीय शोध की साहित्यिक विधि के सम्बन्ध मे हम शोध-छात्रो का ध्यान दो महत्त्वपूर्ण बातो की ओर आकर्षित करना चाहते हैं–1 शोधार्थी **साहित्यिक**

रचना को पढ़ते हुए उन घटनाओं को अलग करता चले, जो किसी सामाजिक पहलू पर प्रकाश डालती हैं, 2 घटनाओं को अपने समाज-सम्बन्धी मूल अध्ययन के मानदण्ड पर परखें। ऐसा करने से निष्कर्ष रूप में शोधार्थी के पास चार तथ्य एकत्रित होंगे—(1) समाज के वे पहलू जिनका चित्रण साहित्यकार ने किया है। (2) चित्रित सामाजिक पहलुओं की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता। (3) वर्तमान समाज से बदला हुआ लेखक का दृष्टिकोण, (4) उक्त दृष्टिकोण का महत्त्व और मूल्यांकन। इन चारों तथ्यों को समाज के विभिन्न अंगों और दिशाओं के परिप्रेक्ष्य में यदि क्रमपूर्वक व्याख्यायित किया जाए तो समाज शास्त्रीय शोध का रूप प्रकट हो सकता है। हिन्दी उपन्यास, कहानी, नाटक अथवा कविता, किसी भी विधा में इस प्रकार का अध्ययन सम्भव है। शोधार्थी का स्वयं समाज शास्त्र का गहन ज्ञान होना आवश्यक है।

(ङ) साहित्य की मनोवैज्ञानिक शोध

समाज-शास्त्रीय शोध के समान ही यहां साहित्य की विभिन्न विधाओं में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का अध्ययन एवं नवीन उत्सर्जित मानसिक वृत्तियों का अंकन किया जाता है। इस प्रकार की शोध एक सीमित दिशा में केवल उन्हीं रचनाओं से सम्बद्ध हो सकती है जो व्यक्ति प्रधान या विषयी प्रधान हुआ करती हैं। कथा साहित्य में व्यक्ति की प्रधानता प्रमुख है, तो काव्य में विषयी-परकता की। कथाकार अपनी जिस रचना में व्यक्ति जीवन को सम्मुख रखकर उसकी मनोवृत्तियों को चित्रित करता है, प्रायः वह मनोवैज्ञानिक रचना कहलाती है। कवि की विषयी-परख रचना में उसके निजी भाव उजागर होते हैं और उन भावों के माध्यम से व्यक्ति रूप में स्वयं कवि अपनी मानसिकता को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार जब उक्त प्रकार की रचनाओं में से किसी पक्ष का शोध अपेक्षित होता है, तो हम उसे मनोविज्ञानाधारित साहित्यिक शोध कहते हैं। प्रचलित भाषा में साहित्यिक घेरे के अन्तर्गत इसी को मनोवैज्ञानिक शोध भी कह दिया जाता है।

मनोवैज्ञानिक शोध के क्षेत्र में प्रवेश करने वाला शोधार्थी सामान्य मनोविज्ञान से परिचित होना चाहिए। क्योंकि आजकल असामान्य अथवा विकार-युक्त मनोभावों का चित्रण लेखकों को अधिक ग्राह्य है, इसलिए असामान्य मनोविज्ञान का अध्ययन भी शोधार्थी के लिए अनिवार्य हो जाता है। कुछ बातें ऐसी भी हैं, जो वातावरण, आनुवंशिकता अथवा परिस्थितिजन्य अस्थायी विकारों से सम्बन्धित होती हैं। इनका *तथ्य बोध भी उतना ही अपेक्षित है, जितना कि मनोविज्ञान का क्रमिक अध्ययन।* उदाहरणार्थ जैनेन्द्र की सुनीता द्वारा जंगल में हरिप्रसन्न के सम्मुख निर्वसना हो जाने वाली घटना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए सुनीता की परिस्थितियों की सही जांच एवं मनोविकारों के उदय के मूल कारणों एवम् उपकारणों का उचित ज्ञान शोधार्थी के लिए अपेक्षित होगा। पति के प्रतिकूल आदेशों के कारण खीझ से भरी हुई सुनीता जंगल में हरिप्रसन्न में उभरते हुए पशु को देखकर भयभीत होती है और

वीभत्स तथा भय की वृत्तियों का सगम अकस्मात् अस्थायी उन्माद का कारण बनता है, यही सुनीता की स्थिति है। मनोविज्ञानाधारित शोधार्थी को इस प्रकार की अनेकानेक परिस्थितियों का विश्लेषण करना पड़ता है। काव्य ग्रन्थों के शोध के समय कवि की अन्त वैयक्तिकता को उघाडने की आवश्यकता होती है। इसके लिए शोधार्थी को अनुमान-प्रमाण का आश्रय लेना पड़ता है। किसी एक उभरती हुई भावना के लिए एकाधिक अनुमान लगाए जा सकते है, और उन अनुमानो को मनोवैज्ञानिक प्रयोग की कसौटी पर परख कर किसी अन्तिम निर्णय पर पहुचा जा सकता है। उपलब्ध मनोवैज्ञानिक शोध-ग्रन्थो म अनुसन्धित्सुओं ने प्राय मूल रचनाओ मे अभिव्यक्त वृत्तियां, विकारो, मनोवेगो, सवेगो, मानवीय सम्बन्धो घुटन, तनाव आदि के कारणो का विश्लेषण मात्र किया है। किन्तु अध्ययन का यह ढग अधूरा है, इसे सही रूप मे साहित्य की मनोवैज्ञानिक शोध नही कहा जा सकता। जब तक शोधार्थी विश्लेषण किए इन मनोवैज्ञानिक प्र गो को साहित्यिक रचनाओ के अन्तर्गत आने वाली घटनाओ से पुष्ट करते हुए किसी समजित निष्कर्ष का सन्देह नहीं देता, तब तक मनोवैज्ञानिक शोध का लक्ष्य सम्पन्न नही होता।

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के कथनो पर आजकल ज्यादा बल दिया जाता है। प्रयास यह किया जाता है कि रचनाकार के कथन को किसी प्रकार किसी लोक विख्यात् मनोवैज्ञानिक के कथन के समक्ष रखा जा सके। ऐसा करते समय शोधार्थी यह विस्मृत कर देता है कि लेखक साहित्यकार है, मनोवैज्ञानिक नही, उसके कथन पारिभाषिक नही, व्यावहारिक होते हैं। इसलिए जहां व्यवहार का अध्ययन करना है वहा परिभाषा आधार तो बन सकती है, लेकिन व्याख्या प्रस्तुत नही कर सकती। व्याख्या के लिए शोधार्थी का बहु-अधीत, बहु-श्रुत एवम् बहु-अनुभूत होना अपेक्षित है। उसका व्यावहारिक जीवन तथा उसका मनोवैज्ञानिक ज्ञान परस्पर एक-दूसरे के अभाव को पूर्ण करते हुए शोध परक समीक्षा का मार्ग निर्दिष्ट करते है।

शोधार्थी को साहित्यिक क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम चयित रचनाओ के अन्तर्गत उजागर होती हुई मनोविकृतियो की 'सूची तैयार करनी चाहिए। उपरान्त उन मनोविकृतियो मे से समता की दृष्टि से वर्गीकरण करते हुए मनोवैज्ञानिको के कथनो का आधार लेकर, उनकी व्याख्या मे लेखक की अनुभूतियां, आत्मकेन्द्रित पात्रो के प्रति सहानुभूति, परिस्थितियो के जाल मे विवशता के कारण उभरते हुए विकार, सब का समीकरण होता है। यदि ऐसी व्याख्याओ की उपेक्षा करते हुए शोधार्थी लकीर का फकीर बनने का प्रयत्न करे, तो उसके द्वारा प्रस्तुत शोध को साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कहा जाना चाहिए।

साहित्य के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का एक और पहलू भी है। साहित्यिक रचनाओ मे कभी-कभी लेखक की दूर-दृष्टि के कारण कुछ नवीन मन-तत्वो का उत्सर्जन होता है। साहित्य के समाज शास्त्रीय अध्ययन मे जैसे शोधार्थी **नवीन समाज**

में उभरते हुए तत्वों को सकलित कर सकता है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक अध्ययन में नवीन उभरती हुई मनोवृत्तियों को सकलित कर सकता है और फिर उस पर एक अध्ययन पद्धति की नीव रखते हुए, नवीन दिशा-निर्देश दे सकता है। यह अध्ययन भी साहित्य की मनोवैज्ञानिक शोध ही कहलाएगा, परन्तु इसमें मनोविज्ञान प्रमुख हो जायेगा और *साहित्य गौण*।

(च) साहित्य की सौंदर्यशास्त्रीय शोध

सौन्दर्य सार्वजनिक अनुभूति है। न्यूनाधिक दृष्टि में यह अनुभूति किसी को भी आप्लावित करती एवं सहृदयों के मन को स्पंदित कर देती है। "कलात्मा की रूप-कल्पना से प्राप्त ग्राहक की अनुभूति को पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति कहते हैं। काव्य साहित्य की अनुभूति को भारतीय मनीषियों ने रसानुभूति की संज्ञा दी है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से सौन्दर्यानुभूति कलाकृति के रूप की है और रसानुभूति काव्यगत भावव्यंजना की। अनुभूति की दृष्टि से दोनों की प्रकृति में साम्य का अभाव नहीं है।"[1] पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र दर्शनाधारित है। इसमें चिन्तन सौंदर्य के तात्विक रूप का अधिक उद्घाटन करता है, कला या साहित्य की व्याख्या एवं उसमें से प्राप्य आनन्द की अनुभूति को प्रकट नहीं करता। इसीलिए भारतीय रस-सिद्धान्त के वर्तमान व्याख्याताओं ने सौंदर्य को रचना का बाह्य गुण अथवा रूपगत विशेषता मानकर उसे रस से निम्न स्थान पर रखा है। दर्शन से हटकर सौंदर्यशास्त्र का लक्ष्य कविकर्म होता है, जबकि भारतीय चिन्तन (रसानुभूति या रसशास्त्र) ग्रहण करने वाली अनुभूति की दृष्टि से काव्य-व्यवस्था की चर्चा करता है। सौंदर्य रूपाश्रित है, रस अनुभूति जन्य। आधुनिक साहित्य चेतना में पाश्चात्य चिन्तन के प्रवेश के कारण प्राय आलोचक भारतीय काव्य-कृतियों को पाश्चात्य मानदण्डों पर परखने का लोभ संवरण नहीं कर पाते। रसानुभूति के साथ-साथ के कृति के रूपगत, मानगत, अनुपात एवं आकारगत सौंदर्य का अध्ययन करना भी अपेक्षित समझते हैं। यही कारण है कि आज *सौंदर्यशास्त्रीय शोध का प्रश्न उपजा है*।

सौंदर्यशास्त्रीय शोध के आधार दो विशिष्ट तत्त्व हैं—सौंदर्यानुभूति एवं सौंदर्यबोध। सौंदर्यानुभूति का मूलाधार आश्रय होता है। आश्रय की निजी मनोदशा वस्तु के सौंदर्य को इंगित करती है। यदि आश्रय में संवेदनशील आत्मा का अभाव है, अथवा उससे सौंदर्य में अभिरुचि नहीं (विरक्त, त्यागी अथवा उदासी व्यक्ति में सौंदर्याभिरुचि नहीं होती) तो निश्चय ही सौंदर्य इसके लिए अनस्तित्व की चीज होगा।[2] आश्रय प्राय अपने व्यक्तित्व के अनुसार ही सौंदर्य में रुचि लेता या सौंदर्य

1 डॉ एम टी नरसिंहाचारी : सौंदर्य तत्त्व निरूपण। पृ 39

2 To take an immediate interest in the beauty of nature (not only have a taste in estimating it) is always a mark of good soul. A. C. Bradley . quoted by Dr. S. T. Narsinhachri.

ग्रहण करता है। बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाला मनुष्य वस्तु के बाह्य रूपाकार पर ध्यान देता एवं उसका सामाजिक मूल्य आकता है, जबकि अन्तर्मुखी व्यक्तित्व या आश्रय वस्तु की भीतरी सौंदर्य-भावना को ग्रहण करता है। बुद्धि को सौदर्यास्वादन मे कोई स्थान नही। तर्क प्राय सुन्दरता की हत्या कर देता है, केवल भावुकता ही सौदर्य की रूपगत सूक्ष्मता के तल तक पहुंच सकती है। इसमे व्यक्ति के आनुवंशिक सस्कार सहयोगी होते है।

सौंदर्यानुभूति का आधार काम है। ज्यो ज्यो व्यक्ति मे काम-भावना परिपक्व होती है, त्या-त्यो सौंदर्यानुभूति के सस्कार विकसित होत है। यदि यह विकास अनुदात्त है तो सौंदर्य के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया वासनात्मक होगी और यदि काम का विकास उदात्त-भावी है तो सौंदर्य के लिए प्रेम उपजेगा। इस स्थिति मे वस्तु इसलिए सुन्दर होती है, क्योकि व्यक्ति के मन मे उसके प्रति लगाव उत्पन्न हो जाता है। डॉ एस टी नरसिंहाचारी ने इस तथ्य के प्रमाण मे विलडुरट को उद्धृत किया है—

A thing is beautiful, first of all, because it is desired so we desired nothing originally because it is beautiful, but we consider it beautiful because we desire it ' (Will Durant Mausians of Philosophy P 286) तात्पर्य यह कि आश्रय वस्तु के प्रति जैसी प्रतिक्रिया करता है, उसी के परिमाण मे उसके मन मे सौंदर्य स्पदित होता है। इसी दृष्टि से काली लैला भी मजनू के लिए अनिद्य सुन्दरी बन सकी थी। जर्मन विचारक काट (Kant) ने सौंदर्यानुभूति की चार विशिष्टताएँ स्वीकार की है। 1 सौंदर्य सार्वभौम तथा सार्वजनीन अनुभूति है। 2 शुद्ध सौंदर्यानुभूति निर्लिप्त होती है। 3 वह किसी भौतिक उपादेयता के बगैर भी सार्थक होती है। 4 सौदर्यानुभूति मन-इन्द्रियो के स्वतन्त्र क्रियान्वयन पर आश्रित होती है, जो सस्कार के विकास के परिणाम स्वरूप जागृत होता है।

सौंद शास्त्रीय अध्ययन करने वाले शोधार्थी को साहित्यिक कृति मे ऐसी सौदर्यानुभूति की खोज करनी होती है, जो ऐन्द्रिकता स मानसिकता एव मानसिकता से आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होती है। साहित्यिक सौदर्य की पूर्णता प्रथम दो धरातलो के सामजस्य मे ही विद्यमान होती है। उत्तम रचना मे ऐन्द्रिय सौन्दर्यानुभूति को उच्च धरातल तक पहुचाया जाता है। इसी यथार्थ की सप्रमाण पुष्टि सौन्दर्यानुभूति जन्य अध्ययन होता है।

सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन मे यदि मनोविज्ञान की सहायता ली जाये, तो सौंदर्यानुभूति को विभिन्न अवस्थाओ मे विभाजित कर अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है। ये अवस्थाएँ छ हैं—1 सौंदर्य के प्रति आकर्षण 2 सौंदर्य-रहस्य की जिज्ञासा, 3 सौंदर्य के अन्तर्दर्शन मे प्राप्त सौख्य, 4 सौंदर्य-दर्शन मे निरन्तर अतृप्ति,

5 स्वप्न-दर्शन, तथा 6 तन्मयता का आनन्द। उदाहरणार्थ यदि हम सूरदास की गोपियों की कृष्ण-सौंदर्य के प्रति उदात्त प्रतिक्रिया का मनोविज्ञानाधारित सौंदर्यशास्त्रीय अवगाहन करना चाहें, तो हमें इन्हीं छः अवस्थाओं से गुजरना होगा। अध्ययन का क्रमिक विकास स्वयमेव सौंदर्य के ऐन्द्रिय धरातल को मानसिक धरातल की ओर सुप्रेरित करेगा। यहाँ कवि तथा कृति, दोनों में ही सौंदर्यानुभूति उच्च धरातल पर स्थापित होगी। 'कामायनी' का 'काम' सर्ग हमारी उपर्युक्त समूची व्यवस्था का सही उत्तर जुटाता है—सौंदर्य के प्रति मानवीय कामना का उदात्त अथवा अनुदात्त विकास जिन परिणामों की सम्भावना प्रस्तुत करता है, श्री जयशंकर प्रसाद ने उनका सुन्दर निरूपण उक्त सर्ग में किया है।

सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए शोधार्थी के पास सौंदर्य को परख सकने का विशेष संस्कार होना भी अनिवार्य है। यही संस्कार मनुष्य का सौंदर्यबोध कहलाता है। सौंदर्य के प्रति चाहत एवं भावन-व्यापार धीरे धीरे सौंदर्यबोध को रूपायित करते हैं। रचनागत या शिल्पगत सौंदर्यबोध का उदय अभिरुचि से ही सम्भव है। यदि किसी व्यक्ति की शास्त्रीय संगीत में रुचि नहीं, अथवा वह उसमें अभिरुचि को विकसित नहीं कर पाया, तो संगीत का सूक्ष्म सौंदर्य कभी भी उसके बोध का विषय नहीं बन सकता। जीवन या जगत में किसी भी स्थिति के सौंदर्यबोध के लिए पहले बार-बार अभ्यास से उसमें अभिरुचि जगाई जाती है, क्रमशः उसमें का सौंदर्य व्यक्ति के सम्मुख उद्घाटित होने लगता है। रचना का सौंदर्य सूक्ष्म अनुशीलन के अभाव में आस्वादन का कारण नहीं बन सकता। मनुष्य अपने परिवेश तथा सामाजिक संस्कारों से भी सौंदर्यबोध ग्रहण करता है। समाज की परम्पराएँ, सांस्कृतिक चेतना अथवा उपलब्धि का स्तर मानवीय सौंदर्यबोध को प्रभावित करते हैं। ईरानी काव्य में 'नरगिसी आँख' की सुन्दरता और भारतीय कविता में 'कमल नयन' के सौंदर्य की तुलना में जातिगत उपलब्ध सौंदर्य का संस्कार देखा जा सकता है। ईरानी स्त्रियों की आँखें गोल होती हैं, भारतीय स्त्रियों की कमल-पत्र समान लम्बायमान—इसी पर सौंदर्यबोध *नरगिस या कमल के उपमानों की खोज करता है।* मनुष्य का व्यक्तित्व, जीवन-परिवेश, रहन सहन का स्तर, आर्थिक भेद आदि तथ्य भी सौंदर्यबोध के निर्धारण में सहयोगी होते हैं। धनवानों में सुकुमारता का सौंदर्य निर्धनों में गठित शरीर के सौंदर्य से प्रायः तुलनीय होते हैं। व्यक्तित्व के अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी होने के कारण प्रकृतिजन्य, मानवीय अथवा सृष्टिजन्य सौंदर्य के दृष्टिकोण भेद बन सकता है। बिहारी की गुलाब-सी नायिका, जिसके शरीर पर चिपकी गुलाब की पखुड़ियाँ अदृश्य हैं और गोरखनाथ की नायिका, जो केवल मांस-मज्जा, हाड़-चाम की घृणित पुतलिका है, इसी दृष्टि भेद की परिणाम है।

आधुनिक चिन्तकों में भी ऐसे विद्वान (क्रोचे) मौजूद हैं, जो वस्तु सौंदर्य को महत्त्व नहीं देते। वे उसके सूक्ष्म अनुशीलन द्वारा वस्तु के भीतर का सौंदर्य आँकने का

सुप्रयास करने का परामर्श देते हैं। उनके मतानुसार साहित्य में अभिव्यंजना की अवस्थाएँ ही कला है, सौंदर्य उनका बाहरी मूल्य है। सौंदर्यशास्त्रीय शोध-कर्ता को सौंदर्यानुभूति एवं सौंदर्यबोध के तत्त्वों व माध्यम से साहित्यिक कृति का अभिव्यंजनागत अवगाहन करना होता है। अभिव्यक्ति के भीतरी एवं बाहरी रूपों का उद्घाटन करना होता है। भीतरी रूप की खोज वह कवि के भावों, मनोविकारों, सोच, कल्पना एवं समूच भावन-व्यापार के सौंदर्य में करता है। बाह्य सौंदर्य भाषा, शैली, कथन, अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति में प्रकट होता है। कवि की लालित्य-योजना उसके भावन-व्यापार में रहती है, तो उसकी सुन्दर सशक्त अभिव्यक्ति नीतिजन्य तथा वक्रोक्ति-युक्त भाषा में सौंदर्यशास्त्रीय शोधार्थी इन्हीं दोनों पहलुओं से रचना के सौंदर्य का सबके लिए आस्वाद्य बनाता है। शोधार्थी को कलाकार के सौंदर्यबोध को पहचानना होता है, जो कि निश्चय ही माध्यम में अभिव्यक्त होता है। वह अपनी रूप-कल्पना को शाब्दिक अभिव्यक्ति देकर मुक्त हो जाता है। शोधार्थी को उन शाब्दिक रूपों में से साहित्यकार के सौंदर्यबोध का निर्धारित करना होता है—इसीमें सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन का सही परिप्रेक्ष्य बनता है।

साहित्यकार अपनी कलात्मक-भावना के अनुरूप ही अभिव्यंजना का विधान करता है। अभिव्यक्त रूप में एक शिल्पगत बहिर्मुखी पहलू झलकता है, जो साहित्यकार की रूप-कल्पना को आकार देता है—इसे बिम्ब कहते हैं। बिम्ब उक्त आकार का मानसिक रूप है। शाब्दिक आकार जब तन्ययता के कारण वास्तव का चोला पहन सजीवता ग्रहण कर लेता है, तभी वह बिम्ब बनता है। बिम्ब की सही जाँच तभी हो सकती है, जब कलाकार का सौंदर्यबोध परीक्षक के सौंदर्यबोध के समकक्ष होता है। अनुदात्त सौंदर्यबोध वाला शोधार्थी कवि प्रसाद के समरस सौंदर्यबोध को तब तक सौंदर्यशास्त्रीय नियन्त्रण में नहीं परख सकता, जब तक कि वह स्वयं उतना ही उदात्त संस्कार नहीं बना लेता। तात्पर्य यह कि सौंदर्यशास्त्रीय शोध काव्य में आन्तरिक और बाह्य रूप-सज्जा एवं अभिव्यंजना को ही लक्ष्य नहीं करता, बल्कि बिम्बों के माध्यम से वह कलाकार की रूप-कल्पना का उद्घाटन भी करता है। रचना के भीतर से वह पाठक के मन में सौंदर्यानुभूति की अभिरुचि पैदा करता है और धीरे-धीरे सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति को सहज समान स्तर पर लाकर रचना को आस्वादन तथा आनन्द का विषय बनाता है। यही मूलतः सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन कहा जा सकता है।

(द) काव्य शास्त्रीय शोध

हिन्दी का निजी काव्यशास्त्र अभी तक निश्चित विकास को प्राप्त नहीं हो सका। हमें किसी भी रचना के अध्ययनार्थ प्रायः पाश्चात्य अथवा संस्कृत काव्यशास्त्र का आश्रय लेना होता है। इस स्थिति में हिन्दी काव्यशास्त्र शोध का महत्व और भी बढ़ जाता है। विचारणीय तथ्य यह है कि संस्कृत आचार्यों ने संस्कृत काव्यों के

आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्र रचा, पुरातन पाश्चात्य काव्य-ग्रंथों के सहारे पश्चिम के अनुसंधित्सुओं ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र की नियमावली तैयार की, ऐसे में हिन्दी का शोधार्थी क्यों अपने युग की रचनाओं का विश्लेषण-विवेचन करते हुए उनकी रचना-धर्मी प्रवृत्तियों को निश्चित करने का साहस नहीं करता। इस दिशा में हिन्दी के शोधार्थियों की अवहेलना का निराकरण करना होगा—उनमें नवीन काव्यशास्त्रीय तथ्यों की खोज का उत्साह जगाना होगा।

काव्य की परिभाषा, काव्यात्मक का प्रश्न, काव्य के तत्व, प्रयोजन, स्वरूप, अभिव्यक्ति के प्रश्न, शैलीगत विश्लेषण-विवेचन, विधागत तत्व एवं प्रकार, रस-सौंदर्य, व्यंजना एवं असाधारण अर्थ बोध आदि का विस्तृत अध्ययन-क्षेत्र काव्य शास्त्र के अन्तर्गत माना जा सकता है। किसी कवि या लेखक,रचना-धर्मी प्रवृत्ति, वाद विशेष अथवा साहित्यिक धारा की धारणाओं को निगमन द्वारा स्थापित करने के सम्बन्ध में किया गया अनुसंधानात्मक कार्य काव्यशास्त्री शोध कहलाएगा। इस दिशा में कार्य करने वाला अनुसंधित्सु अपने आलोच्य लेखक, काल, धारा या वाद की सीमाओं में आने वाली समूची रचनाओं का सर्वेक्षण करता है। उनमें से समान तत्वों को अलग करता है। विषमताओं को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है, और फिर समान तत्वों की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए उपयोगी विषम तत्वों का विश्लेषण-विवेचन भी करना है। किसी भी रूप में जब उनकी उपयोगिता स्थापित हो जाती है, तो उन तत्वों के महत्व का भी वह निर्देश करता है। इस प्रकार एक नए काव्यशास्त्र का जन्म होता है—जैसे छायावादी कवियों के काव्य-सिद्धान्त अथवा भक्तिकालीन कवियों के काव्य सिद्धान्त।

आज संस्कृत काव्यशास्त्रियों पर आश्रित रहकर हम हिन्दी में नित्य नवीन लिखे जा रहे महाकाव्यों का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। वर्तमान स्थिति में या तो हम उन रचनाओं को महाकाव्य ही नहीं मानते, या उनके प्रति उपेक्षित दृष्टि बनाए रहते हैं। परिणाम यह है कि रचना-क्षेत्र में निरन्तर विकास होते हुए भी उसके अध्ययन-क्षेत्र में गतिरोध पैदा हो गया है। इसे दूर करने के लिए वर्तमान की सहज माग है कि हम नवीन उभरती हुई प्रतिभाओं की काव्य-मान्यताओं की जाच परख करें। ऐसा करने के लिए हमारी आधार सामग्री जहाँ आलोच्य कवि की सर्जनात्मक कृतियाँ होंगी, वहाँ उसके द्वारा प्रकट मान्यताओं का ब्यौरा भी अनिवार्य होगा। उदाहरणार्थ यदि हमें श्री सुमित्रानन्दन पंत के काव्य-सिद्धान्तों का अध्ययन करना होगा, तो हम उनके काव्य ग्रन्थों को तो संकलित करेंगे ही। साथ ही उनकी समीक्षात्मक भूमिकाएं एवं स्वतन्त्र ग्रंथों का अवलोकन अनिवार्य होगा। पन्तजी के काव्य-संग्रहों में लिखी गई भूमिकाएं (यथा 'आधुनिक कवि' की भूमिका) तथा 'छायावाद एक पुनर्मूल्यांकन' सरीखी समीक्षात्मक कृतियाँ इस दिशा में अन्यतम महत्व की चीजें हैं। यह सही है कि पन्त की काव्य मान्यताओं की स्थापना केवल इन समीक्षात्मक ग्रंथों पर नहीं होगी—उसका मूल आधार पन्त की काव्य रचनाएं ही होंगी, तथापि

पत्र के द्वारा प्रकट काव्य सम्बन्धी प्रत्यक्ष या परोक्ष विचार अध्ययन की दिशा निश्चित करने में अवश्य सहायक होंगे। महादेवी वर्मा की 'यामा' की भूमिका तथा 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध' आदि रचनाएँ भी इस दिशा में सहायक हो सकती हैं। प्राय कवियों के काव्यधारणा सम्बन्धी तत्त्व उनकी रचना में ऐसे घुले-मिले से होते हैं कि उनकी काव्यकृतियाँ एवं यत्र तत्र प्रकट काव्य-सम्बन्धी विचारों के सही आकलन-मूल्यांकन द्वारा ही हम व्यक्तिगत काव्य-सिद्धान्तों का रूप निश्चित कर सकते हैं।

इसके विपरीत यदि किसी काल-विशेष अथवा धारा-विशेष के रचनाकारों की काव्यधारणाओं के सम्बन्ध में अध्ययन करना हो, तो उपर्युक्त पद्धति को सामूहिक रूप से प्रयोग में लाना अपेक्षित होता है।

वर्तमान काल में लेखक प्रयोगवादी है। वह रचना के नए नए प्रयोग कर रहा है। 'यशोधरा' 'उर्वशी' आदि आधुनिक रचनाएँ काव्य के पुराने साँचों में नहीं ढाली जा सकती—'उर्मिला' 'कैकयी' और 'मीरां' सरीखी रचनाओं में नायिका प्रधानता उन्हें पुरातन महाकाव्य के साँचे के योग्य नहीं रहने देती—प्रेमचन्द, निराला जैसे साहित्यकारों पर लिखे गए महाकाव्य नायक की दृष्टि से महाकाव्यत्व के अनुरूप नहीं, तो क्या ऐसी स्थिति में हम वर्तमान प्रयोग की प्रत्येक रचना को घता बतानी होगी? नहीं, उन रचनाओं के अनुरूप काव्य-सिद्धान्त गढ़ने होंगे। नवीन काव्य-सिद्धान्तों की खोज में की गई साहित्यिक मुहिम का नाम ही काव्य-शास्त्रीय शोध होगा।

मात्र काव्य-क्षेत्र में ही नहीं, परम्परागत रूप-विधान प्रत्येक साहित्यिक विधा में बदल रहा है। कोई भी सप्राण, सशक्त नवीन रचना अब पुराने साँचे में ढाली नहीं जा सकती। उसके लिए नवीन साँचों की खोज भी अनिवार्य है। आज उपन्यास की रचना को परम्परित तत्त्वों पर परखा नहीं जा सकता। उपन्यासकारों ने युग बोध के अनुकूल अनेक नए प्रयोग किए हैं। उनकी कतिपय उदात्त रचनाओं को पश्चिम वालों ने महाकाव्यात्मक विशेषण से सुसज्जित किया है—परिणामत एक तो महाकाव्य की सीमाएँ पद्य के साथ साथ गद्य को छूने लगी हैं और दूसरे, गद्य का घेरा व्यापक होने के कारण नवीन शैलियाँ जन्म लेने लगी हैं। पश्चिमी काव्यशास्त्रों की उक्त घोषणा का आधार परिवर्तित रूप में लौंजाइनस का उदात्त तत्व ही है, किन्तु क्या हिन्दी साहित्य-शास्त्र अब इतना इतना सबल नहीं हो चुका कि वह अपने लिए स्वयं सोच सके।

विभिन्न साहित्यिक विधाओं के पारस्परिक प्रभावों का महत्त्व आज बढ़ता जा रहा है। सिनेमा के लाईट-शेड एवं ध्वनि के तकनीक रंगमंच तेजी के साथ ग्रहण कर रहा है। नाटक के लिए रंगमंच वाली बात पुरानी हो गई है—बहुधा रंगमंच और नाटक साथ-साथ चलने लगे हैं, प्रत्युत कदाचित् रंगमंच आगे बढ़ जाता है। **कहानी**

और उपन्यास में अन्तराल बढ़ रहा है, प्रदत्त तत्त्वों के सम्मुख विचार-बिन्दु (Point of thought) एकदम तात्त्विक महत्त्व ग्रहण कर गया है। आज का कथाकार विचार-बिन्दु को ही कथा का मूल तत्त्व मानकर रचना को आधार दे रहा है।

परिवर्तन इतना तीव्र और तीव्रगामी हो गया है कि छायावाद, छायावादोत्तर, प्रयोगवाद, नयी कविता, विचार कविता आदि धाराओं की रचना प्रयोग के स्तर पर अलग होने का दावा करती हैं। निःसन्देह उक्त दावे के होते हुए भी सम्प्रति काव्य में छायावाद, परम्परित काव्य-समय तथा पौराणिक मिथकों की झलक मिल ही जाती है। काव्यशास्त्रीय शोधार्थी को अपने अध्ययन ग्रन्थ में इन्हीं तथ्यों को बीनना, परीक्षण करना एवं उन पर सैद्धान्तिक निर्णय देना होता है। या भी नवीन विधाओं यथा संस्मरण, रिपोर्ताज, गद्य-गीत, रेडियो नाटक, साक्षात्कार आदि का उद्‌भव, विकास रूपान्तरण का अध्ययन काव्यशास्त्र के ही विषय हैं। साहित्यिक विधा के अन्तर्विरोध तत्त्व, स्वरूप, ह्रास-विकास एवं अन्योन्याश्रित प्रभावों तथा अन्य सम्भावित स्थितियों का आकलन-परीक्षण भी काव्य-शास्त्रीय शोध के अन्तर्गत हो सकता है। साहित्य विधाओं के नवीन तत्त्वों और मूल्यों की व्याख्या एवं स्थापना, नए नियमों सिद्धान्तों की खोज आदि काव्यशास्त्रीय अनुसन्धान का पराक्रम होता है।

(ज) साहित्येतिहास सम्बन्धी शोध

इतिहास की मूल-भावना 'विकास' है, ऐसा भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। सम्प्रति घटित किसी भी घटना के पीछे एक समूची विकासात्मक पृष्ठभूमि मौजूद रहती है। उसका सही उद्‌घाटन करना ही ऐतिहासिक शोध का विषय होता है। साहित्य की विभिन्न धाराओं विधाओं प्रवृत्तियों आदि के उद्‌गम और विकास के अन्तर्गत भी इसी दृष्टि से अन्वीक्षण का उपक्रम साहित्येतिहास को रूप देता है।

डॉ॰ गणपति चन्द्रगुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में डार्विन, स्पेंसर, बर्गसां, टवायनवी आदि विकासवादी विचारकों के गम्भीर अध्ययनोपरांत विकास-प्रक्रिया के पाँच निश्चित सूत्रों का निर्देश दिया है। वे हैं—प्राकृतिक सर्जन शक्ति, परम्परा, वातावरण, द्वन्द्व या आकर्षण विकर्षण और सन्तुलन-स्थापना। विश्वास किया जाता है कि विश्व के किसी भी क्षेत्रीय विकास की व्याख्या तथा पृष्ठ-भौमिक आकलन उक्त सूत्रों के माध्यम से सम्भव है। अतः साहित्येतिहास सम्बन्धी शोधार्थी के लिए हमारा सुझाव है कि वह अपनी इतिहास-परक समस्याओं के लिए पाँचों सूत्रों में से सुयोग्य आधार लेकर स्थिति की पृष्ठभूमि का उद्‌घाटन कर और तदोपरांत धारा के विकास, ह्रास या व्यवस्था-अव्यवस्था के सूत्रों का परीक्षण करे। ऐसा करने से उसकी शोध विषयक पृष्ठभूमि सुदृढ़ होगी और इस सबल नींव पर खड़ा किया गया प्रासाद सुन्दर तथा आकर्षक बन सकेगा।

प्राकृतिक सर्जन शक्ति से यद्यपि क्षेत्रीय विकास के घेरे में कई तरह के अर्थ लगाए जाते हैं, किन्तु साहित्येतिहास अथवा काव्य क्षेत्र में इसमें रचयिता की ईश्वर-रचना शक्ति अर्थात् प्रतिभा का अर्थ ही लिया जाता है। कवि की प्रतिभा ही उसके लेखन-विकास का आधार है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने ईश्वर-प्रदत्त-प्रतिभा को काव्य का आधार माना है। यह वह मूल शक्ति है जो मनुष्य के भीतर छिपे हुए साहित्यकार का अनावरण करती है। साहित्येतिहास में किसी भी धारा के प्रारम्भिक लेखक इसी शक्ति से सम्पन्न होने के कारण नयी धारा का श्रीगणेश करते अथवा उसे कोई महत्त्वपूर्ण मोड देने में समर्थ होते हैं। उनसे पूर्व उस क्षेत्र में यथावत् रचना हुई हो या उसके बीज मौजूद हों, उन्हें उसकी अपेक्षा नहीं रहती। तथापि साहित्येतिहासिक शोधार्थी का उक्त प्रतिभाशाली लेखक की धारणाओं का सम्बन्ध पीछे किसी परम्परा अथवा वातावरण से जोड़कर उसका अध्ययन प्रस्तुत करना इतिहास नियमों के अनुकूल होता है।

परम्पराएँ रूढ होकर 'भार' बन जाती हैं। भारत की आध्यात्मिक परम्परा बड़ी सक्षम है। साहित्य क्षेत्र में भक्तिकाल के उदय एवं साधक सन्तों-महात्माओं के काव्य की पृष्ठभूमि युगीन परिस्थितियों के अतिरिक्त उक्त परम्परा में खोजना उचित ही होगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में वातावरण को परम्परा की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। वातावरण के आश्रय ही उन्होंने काल-विभाजन एवं नामकरण प्रस्तुत किए हैं। भक्ति काव्य मुसलमानों के शासन-स्थापना एवं अत्याचारों की प्रतिक्रिया थी या इसका मूल नाथों-सिद्धों से होता हुआ हमारी उपनिषद्-कालीन आध्यात्मिक परम्परा में था—यह आज शोध का विषय बन सकता है। द्वन्द्व अथवा आकर्षण-विकर्षण का सूत्र भी हमारे लिए शोध की नयी जमीन प्रस्तुत करता है। प्रायः साहित्यिक धाराएँ द्वन्द्वात्मक विकास को प्राप्त होती हैं। द्विवेदी युगीन आदर्शवादी काव्य की प्रतिक्रिया में छायावादी स्वच्छन्दता एवं पुनः इसकी प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद का यथार्थ धरातल निश्चय ही घात प्रतिघात विधि से विकास पा रहा था। अतः इस सूत्र को आधार बनाकर शोधार्थी साहित्येतिहास सम्बन्धी अनेक गुत्थियों को सुलझा सकता है। सन्तुलन तो उन समस्याओं के समाधान का गुण है। जिस प्रकार नदी पर्वतों-चट्टानों से टकराती, उछलती मचलती जब समतल में प्रविष्ट होती है, तो शान्त भाव से बहने लगती है, उसके दोनों ओर सुन्दर नगरों का निर्माण होता है, जीवन का सौंदर्य उमडने लगता है, ठीक इसी प्रकार साहित्य की कोई भी धारा सन्तुलन की परिधि में आने के बाद सौंदर्यवादी जीवन-मूल्यों की खान बन जाती है। आदर्शों, टकराहटों और यथार्थों से भी आगे शान्ति-सुशोभित सनातन व काव्य-विषयों का जन्म होता है। साहित्येतिहासकार को उनके मूल का ज्ञान संकलित करना होता है।

साहित्येतिहास सम्बन्धी शोध मुख्यतः तीन प्रकार की हो सकती है—

1 ज्ञात तथा अज्ञात साहित्य के आधार पर उसका इतिहास संकलित करना।

2. विभिन्न विधाओं या धाराओं का उद्भव और विकास।

3 किसी साहित्यिक धारा की पृष्ठभूमि, धाराओं के पारस्परिक प्रभाव तथा निष्कर्ष अथवा किसी साहित्यिक प्रवृत्ति या काव्य-रूढि का ऐतिहासिक सर्वेक्षण।

इनमें से प्रथम कोटि की शोध में अनुसन्धित्सु की सामग्री हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ, प्रकाशित ग्रन्थों एवं ऐसी अज्ञात रचना होती हैं, जिनके उद्धरण या संकेत तो प्राप्त होते हैं, किन्तु मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं शोधार्थी को उन सबकी धाराएँ तथा प्रवृत्ति निश्चित करना होती है, वर्गीकरण करके प्रत्येक वर्ग में उनका काल-क्रम निश्चित करना होता है और तदोपरान्त अलग-अलग रचना। रचनाकार की रचनाधर्मी प्रवृत्ति की समूची पृष्ठभूमि अंकित करना होती है। अन्त में प्रवृत्ति क्रम से धाराओं का नामकरण करके पृष्ठभूमि, परिस्थितियाँ और परम्परा का निर्देश करते हुए प्रदत्त प्रवृत्ति का विधायकों का उल्लेख और बाद में प्रवृत्ति के प्रमुख कर्णधारों तथा उनकी रचनाओं का परिचय तथा विवेचन किया जाता है। इस प्रविधि में गाण लेखकों को एकसाथ चित्रित किया जा सकता है। "किसी परम्परा में प्रत्येक कृति की सही स्थिति निश्चित करना साहित्यिक का पहला काम है। कलात्मक कृतियों में सबसे पहली और सबसे प्रकट शृंखला एक लेखक द्वारा लिखी गई कृतियों की है।—हम किसी एक कृति या कृतियों के समूह को उसकी परिपक्व रचना मान सकते हैं और शेष कृतियों से इस दृष्टि से विचार कर सकते हैं कि वे इस टाइप की कृति या कृतियों से कितना निकट पड़ती हैं।"[1] क्योंकि साहित्य की परम्परित धाराओं अथवा विकासात्मक काव्यों के संदर्भ में कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती, इसलिए साहित्यिक इतिहास में काल-विभाजनानुसार ऐतिहासिक उल्लेख सदैव संदेहास्पद रहता है। कालावधि विशेष के अन्तर्गत प्रथम तो प्रवृत्तियों/शैलियों को बाँधा नहीं जा सकता (क्योंकि साहित्य की एक प्रवृत्ति कहीं अवरुद्ध होकर, पुनः सुअवसर पा कर निकलती है), दूसरे जब एक ही काल-खण्ड में एकाधिक ढर्रे की रचनाएं हों, तो उनका सुधार वर्गीकरण सम्भव नहीं (यथा रीतिकाल में वीर-काव्य प्रवृत्ति)। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यद्यपि युगीन दृष्टि से एक अति सफल साहित्येतिहास की रचना की, तथापि इतिहास लेखन की वैज्ञानिक विधियों के संदर्भ में आज उसमें अनेक दोष देखे जा सकते हैं। राजनीतिक दृष्टि से यदि काल-विभाजन किया जायगा, तो स्यात् इतिहासकार की स्थिति अधिक सुदृढ़ रह सकती है। किन्तु उक्त स्थिति में उसे राजवंशों की कालावधियों के साथ बंधकर साहित्य-रचना का वर्गीकरण प्रस्तुत करना होगा। ऐसा करने से किसी भी साहित्यिक धारा का उल्लेख विशेष शैली में ही सम्भव हो सकेगा, जोकि साहित्येतिहास की एक अतीव अस्वस्थ एवं अव्यवस्थित दृष्टि होगी।

---

1 रेनेवेलक और आस्टेन, साहित्य-सिद्धान्त, पृ 342, उद्धृत डॉ विनयमोहन शर्मा, शोध-प्रविधि, पृ 130.

दूसरे पर प्रभाव की छाप का निष्कर्ष प्रस्तुत करते है। हिन्दी मे इस प्रकार की शोध दीर्घकाल से होनी आ रही है, पिछले एक-दो दशको मे तो इस प्रवृत्ति को बल ही मिला है। शोधार्थियो मे तुलनात्मक रचना का कारण अहिन्दी भाषी विद्वानो की हिन्दी मे शोध की प्रबल आकाक्षा है—वे जिस भाषा भाषी क्षेत्र मे आते है उसी भाषा के किसी न-किसी पहलू का अध्ययन हिन्दी के समान क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य मे करके एव हिन्दी को सम्पन्न बनाते है। अहिन्दी-भाषी प्रदेशो के विश्वविद्यालयो मे ऐसे अनेक शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हो चुके है। हमारे पजाब प्रदेश मे ही पजाबी—हिन्दी के अनेक तुलनात्मक अध्ययन हो चुके है—यथा गुरु अर्जुनदेव और दादूदयाल प्रेमचन्द तथा नानकसिंह, गुरुनानक तथा कबीर भाई वीरसिंह और प्रसादजी, पजाबी—हिन्दी उपन्यास, पजाबी हिन्दी नाटक पजाबी हिन्दी कहानी आदि के तुलनात्मक अध्ययन।

तुलनात्मक साहित्यिक शोध के दस मूल आधार हो सकते है, शोधार्थी इनमे से कोई भी एक क्षेत्र अपनाले।

1 **दो भाषाएँ—एक विधा** इसमे शोधार्थी अपनी मातृ भाषा तथा हिन्दी की कोई एक साहित्यिक विधा अध्ययनार्थ अपना सकता है। काव्य, उपन्यास नाटक, कहानी आदि विधाओ का सर्वागीण अथवा पहलू विशेष का अध्ययन इसके अन्तर्गत सम्भव है। 'हिन्दी तथा मराठी सन्त-काव्य' 'हिन्दी तथा पजाबी उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन', 'हिन्दी तथा गुजराती नाटक का तुलनात्मक अध्ययन' हिन्दी तथा तमिल मे वैष्णव भक्ति' आदि विषय दो भाषाओ की एक विधा के सर्वांगीण अध्ययन है, जबकि 'हिन्दी तथा बगाली उपन्यास मे नायक की परिकल्पना', 'हिन्दी तथा मराठी महाकाव्यो मे सामाजिक परिवेश' आदि विषय पहलू विशेष का अध्ययन हो सकते है। इस कोटि के तुलनात्मक विषय का चुनाव करने के लिए शोधार्थी का हिन्दी के अतिरिक्त दूसरी भाषा का ज्ञान होना ही पर्याप्त नही, उस भाषा के साहित्य की साधिकार जानकारी भी अपेक्षित है। यो भी दो भाषाओ को मिलाकर तुलनात्मक शोध करने वालो के लिए सामान्यत दोनो भाषाओ का गम्भीर पारायण आवश्यक है।

2 **एक ही भाषा मे दो विधाओं अथवा प्रवृत्तियो का अध्ययन** कभी-कभी अनुसधित्सु अपने शोध-क्षेत्र को दो भाषाओ के सूत्र मे बाधने की अपेक्षा एक ही भाषा की दो प्रवृत्तियो का तुलनात्मक अध्ययन करना पसन्द करता है—यथा कृष्ण भक्ति तथा रामभक्ति धाराओ की मूल चेतना मे अन्तर,' 'प्रेममार्गी तथा ज्ञानमार्गी शाखाओ की दार्शनिक पृष्ठभूमि की तुलना अथवा हिन्दी के नाटको तथा उपन्यासो मे विसगति' आदि सम्भावित विषय हो सकते है।

3 **एक ही भाषा–साहित्य मे दो कालो की तुलना** दो अलग अलग कालो की कोई एक पद्धति अथवा उन युगो मे लिखित साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन भी सम्भव है। 'मध्यकालीन एव आधुनिक महाकाव्यो मे नायक का स्वरूप', 'हिन्दी गद्य

के विकासक्रम मे भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगो का तुलनात्मक अध्ययन', 'आदिकालीन एवं रीतिकालीन हिन्दी वीर-काव्य का तुलनात्मक अनुशीलन' आदि विषयों को इस कोटि में सुभाया जा सकता है। इस कोटि का तुलनात्मक अध्ययन अभी विशेष नहीं हुआ है, शोधार्थियों के लिए इस दिशा में अभी पर्याप्त अवकाश मौजूद है।

4. एक ही भाषा साहित्य में दो लेखक या दो कृतियाँ : प्रायः तुलनात्मक सदर्भ मे एक ही भाषा साहित्य के दो लेखकों अथवा दो कृतियों का अध्ययन एक-साथ किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत 'सूरदास तथा तुलसीदास का तुलनात्मक अध्ययन' अथवा 'राम-चरित-मानस एवं साकेत का तुलनात्मक अध्ययन' सरीखे शोध-विषय अपनाए जा सकते हैं। 'भ्रमरगीत के संदर्भ में सूरदास तथा नन्ददास का तुलनात्मक अनुशीलन' भी इसी प्रकार का ग्राह्य विषय कहा जा सकता है।

5 दो भाषाओं के साहित्य में एक काल विशेष पंजाबी तथा हिन्दी, मराठी और हिन्दी भाषाओं के साहित्य म 'भक्तिकाल' का समय बराबर है—इसका तुलनात्मक विश्लेषण सम्भव है। अनुसन्धाता यदि अध्ययनार्थ चयित दोनों भाषाओं तथा उनके साहित्य का जानकार हो, तो वह इस प्रकार के तुलनात्मक विषयों को भली-भाँति निभा ले जाता है।

6. दो भाषाओं के दो अलग-अलग लेखक—सहज ही जब शोधार्थी हिन्दी के साथ-साथ अपनी मातृ-भाषा अथवा किसी अन्य भाषा का ज्ञाता हो, तो वह एक हिन्दी लेखक के साथ अन्य भाषा के किसी लेखक की रचनाओं, कथ्य और शिल्प, कला-सौंदर्य आदि तथ्यों की तुलना प्रस्तुत कर सकता है। डॉ अघ्टेकर का शोध प्रबन्ध, 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं विष्णुशास्त्री चिपलूणकर' अथवा डॉ रामप्रसाद अग्रवाल का 'आदिकवि वाल्मीकि तथा महाकवि तुलसीदास की रामायणों का तुलनात्मक अध्ययन' इसी कोटि की तुलनाएँ हैं।

7 दो भाषाओं के एक ही विधापर लिखने वाले दो लेखक : इस प्रकार की शोध का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। कविता, नाटक, कथा साहित्य आदि विधाओं के प्रवृत्तिजन्य साम्यता रखने वाले अनेक लेखक अध्ययनार्थ अपनाए जा सकते हैं—यथा गुजराती कवि न्हानालाल तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पंजाबी कवि भाई वीरसिंह तथा जयशंकर प्रसाद, उपन्यासकार प्रेमचन्द तथा नानकसिंह, नाटककार भारतेन्दु तथा ब्रजलालशास्त्री आदि लेखकों का तुलनात्मक अनुशीलन सम्भावित है।

8. दो भाषाओं की एक साहित्यिक प्रणाली—'तेलुगु तथा हिन्दी मे वैष्णव भक्ति साहित्य', 'हिन्दी तथा मराठी सन्तों की रहस्य-साधना', गुजराती तथा हिन्दी कृष्ण काव्य' आदि विषयों को इस कोटि मे रखा जा सकता है। इस दिशा में शोधार्थी को दोनों भाषाओं की किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति की विशेषताओं को जानना होता है और उसके अन्तर्गत तुलनात्मक शोध की योजना बनानी होती है।

9. दो भाषाओं के काव्य-शास्त्र की तुलना : हिन्दी अनुसन्धान में ऐसी शोध अभी तक न के समान ही हुई है। संस्कृत तथा हिन्दी काव्यशास्त्र के अतिरिक्त डॉ मनोहर काले का ग्रा हिन्दी तथा मराठी के काव्य-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन' उपलब्ध है यो हिन्दी-बंगाली, हिन्दी-कन्नड, हिन्दी-गुजराती के काव्य-शास्त्रों का तुलनात्मक अनुशीलन की सम्भावनाएँ मौजूद हैं।

10. दो भाषाओं का भाषा-वैज्ञानिक अथवा व्याकरण सम्बन्धी किसी प्रसंग का तुलनात्मक अध्ययन : हिन्दी द्विलिंगी भाषा है, संस्कृत तथा भारत की अन्य अनेक भाषाएँ त्रिलिंगी हैं। लिंग-भेद के कारण क्रिया प्रयोगों में सहज अन्तर आता है, तथा लिंग-परिवर्तन, सन्धि-विच्छेद, समास-विग्रह, उपसर्ग-प्रत्यय आदि के नियमों का भेद का अनुशीलन किया जा सकता है। यह दो भाषाओं की व्याकरणिक तुलना होगी। भाषा विज्ञान की दृष्टि से तुलनात्मक पहलू भाषागत साधन, विस्तार, अर्थ-परिवर्तन, उच्चारण-परिवर्तन आदि होंगे। आजकल इस दिशा में शोधार्थियों की रुचि बहुत कम रह गई है।

ऊपर हमने साहित्य में तुलनात्मक शोध की दस दशाएँ सुझाई हैं। मूल ग्रन्थ एवं अनुवादों-टीकाओं में भी तुलना सम्भव है। तुलनात्मक शोध प्रबंध शोधार्थी के बूते की बात नहीं होती। पहले तो एकाधिक भाषाओं पर समानाधिकार प्राप्त कर सकना कठिन होता है, यदि हो भी तो उन भाषाओं के प्रति अनुसन्धित्सु की रुचि भी समान होगी, इसमें सन्देह है। यही स्थिति लेखकों या कृतियों की होती है। प्रत्येक लेखक या कृति की विशेषताएँ अलग होती हैं, तुलना कैसी! रचनाकार की शैली में इतना निजत्व रहता है कि उसे दूसरे के सम्मुख रखकर उस पर घटाया नहीं जा सकता। यही कारण है कि प्राय तुलनात्मक अध्ययन करते समय समान परिस्थितियाँ, समान प्रवृत्तियाँ एवं समान रचना-रूढ़ियों के विश्लेषणोपरात प्राय. अनुसंधित्सु को दोनों पहलुओं पर अलग अलग अध्याय लिखने-जुटाने पड़ते हैं। 'हिन्दी तथा पंजाबी उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन' प्रस्तुत करते हुए सहज ही लेखक को प्रारम्भिक अध्यायों में हिन्दी-पंजाबी के उपन्यास साहित्य का सर्वेक्षण, युगीन प्रवेश तथा दोनों प्रकार के उपन्यासों में सामान्य प्रवृत्तियों को दर्शाते हुए दोनों भाषाओं में उपन्यासों का ऐतिहासिक विकास-क्रम अलग करके प्रस्तुत करना पड़ा है। इसी प्रकार दोनों भाषाओं की विषयगत एवं शिल्पगत प्रवृत्तियों (सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों के संदर्भ में) को अलग-अलग अंकित किया गया है। तात्पर्य यह कि किसी भी क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन में तुलना कम, अन्तर अथवा प्रभाव अधिक होता है। यदि तुलना हो भी तो वह अलग अध्यायों में व्याख्यारूप होती है, न कि तुला के दो पल्लों पर टिका मूल्यांकन।

प्रभाववादी अध्ययन भी तुलना ही के अन्तर्गत आता है। एक भाषा का दूसरी भाषा पर विधागत, वस्तुगत या शिल्पगत प्रभाव, एक ही भाषा के अन्तर्गत एक लेखक

का दूसरे लेखक पर प्रभाव, एक भाषा के लेखक का दूसरी भाषा के लेखक पर प्रभाव, एक काल का साहित्य के दूसरे काल पर अथवा ऐतिहासिक परिस्थितियों का साहित्य-सृजन पर प्रभाव आदि अध्ययन-क्षेत्र अपनाए जा सकते हैं। 'हिन्दी उपन्यास का पंजाबी उपन्यास पर प्रभाव, 'बंगला पर हिन्दी का प्रभाव', 'गुजराती संत प्रखा पर कबीर का प्रभाव', 'नयी कविता में छायावादी रूमानियत का प्रभाव', 'गुरु गोविन्दसिंह की रचनाओं में युगीन चेतना अथवा उन पर ऐतिहासिक प्रभाव' आदि अनेक प्रभाववादी ग्राह्य विषय सम्भव हैं विषय-प्रयोजन का ढंग इस दिशा में भी तुलनात्मक प्रणाली का ही होता है, केवल अन्त में एक ऐसे अध्याय की योजना अपेक्षित होती है, जो एक ही प्राप्तियों को दूसर पर सतर्क स्थापित कर सके।

तुलनात्मक अथवा प्रभाववादी शोध पर्याप्त मात्रा में हो रहा है। विभिन्न प्रदेशों से आने वाले हिन्दी के विद्वान सहज ही अपनी मातृभाषा को भी सार्थकता प्रदान करने में सफल होते हैं। हाँ, व्याकरण सम्बन्धी या भाषा वैज्ञानिक शोध का क्षेत्र साहित्य से अलग सिमटता जा रहा है।

(ञ) लोक-साहित्य सम्बन्धी शोध

इस प्रकार के अनुसन्धान में शोधार्थी को अधिक सक्रिय, गतिशील एवं उत्साही होना चाहिए। लोक-साहित्य की सामग्री संकलन के लिए निश्चय ही उसे अपने अध्ययन-कक्ष से निकलकर उस यथार्थ धरती पर चलना होगा, जहाँ लोक-साहित्य रचा जाता है, जन्म लेता है या सहज प्रवाहमान् होता है। लोक-साहित्य की उक्त यथार्थ धरती है गाँव, चौपाल, खेत, खलिहान, पनघट, बावड़िया,'जहाँ लोक-गीत उगते-पनपते हैं, कथाएँ बनती-विकसित हैं, और लोक-यान का पहिया निरन्तर लीक बनाता चलता है। शोधार्थी को सामग्री संकलन के लिए अनेक जोखिम उठाने पड़ सकते हैं। गाँव की भोली रमणियों, निर्दोष किसानों, सहज सन्देहशील वृद्धाओं, सबसे स्नेह, विश्वास तथा अपनत्व का नाता बनाना पड़ता है। सामग्री संकलन करने वाले शोधार्थी पर थोड़ा भी अविश्वास या सन्देह न केवल संकलन-कार्य में बाधा बन सकता है, बल्कि उसे भौतिक हानि भी उठानी पड़ सकती है। ऐसी स्थिति में उचित होगा यदि शोधार्थी उनके गीत रिकार्ड करने के बाद पुनः रिकॉर्ड पर उन्हें सुना दे तथा उन्हें विश्वास दिलाए कि इस रिकार्डिंग से लोक-गीत गाने वाले को किसी प्रकार की कोई हानि नहीं होगी। आप किस प्रकार का अध्ययन कर रहे हैं, इसका क्या लाभ होगा और सामग्री देने वालों की वाणी को भी अमरता प्राप्त हो सकेगी—ऐसी बातें स्पष्ट कर दी जानी चाहिए।

सामग्री-संकलन के लिए अनुसन्धित्सु को अंचल-विशेष में पूर्णतः परिचित किसी ऐसे व्यक्ति को सूचक के रूप में नियुक्त कर लेना चाहिए, जो उन केन्द्रों की भली-भाँति जानकारी दे सके, जहाँ शोधार्थी को सामग्री-प्राप्ति की सम्भावना हो। पुनः सूचक वहाँ के लोगों से खूब परिचित होना चाहिए, ताकि वह उन्हीं की भाषा-भावों में उन्हें शोध का महत्त्व तथा सहयोग की आवश्यकता समझा सके। शोधार्थी

अध्याय 3

पाठ–शोध की विधि

प्राचीनकाल में अधिकांशतः साहित्यिक रचनाएँ मौखिक होती थीं। वंश-परम्परा में लोग एक दूसरे से सीखते एवं मौखिक रूप में स्मरण कर लेते थे। ऐसी दशा में यदि उक्त मौखिक रचनाओं का श्रवण कर अथवा स्मरण शक्ति पर बल लगाकर हम लिखित अभिव्यक्ति देने का प्रयास करें, तो निश्चय ही अनेक स्थलों पर शब्दों, वर्ण विन्यास, मात्रिक गणना आदि में मूल से भिन्नता आ जायगी। उदाहरणार्थ आल्हखण्ड निपट अशिक्षित लोक गायकों की मौखिक परम्परा मात्र ही तो था, किन्तु आज का लेख-बद्ध रूप मौखिक से अभेद है यह कौन कह सकता है? पुनः रचनाकार की हस्तलिखित प्रति की जब लिपियाँ-प्रतिलिपियाँ होने लगती हैं विभिन्न पुस्तकालयों-संग्रहालयों की शोभा बढ़ाने के लिए रचना विशेष की प्रतिलिपि करवाकर वहाँ रखने की योजना बनाई जाती है, तब प्रतिलिपिकार प्रमादवश अथवा असावधानी से मात्राओं, शब्दों, वाक्य-पदों आदि में अन्तर परिवर्तन कर देते हैं। आगे जब इस परिवर्तित प्रति से पुन: प्रतिलिपि होती है तो इस प्रकार की भूलें और भी बढ़ जाती हैं। प्रतिलिपिकार यदि अधिक पढ़ा-लिखा एवं स्वयं कवि हुआ तब तो परिवर्तन की आशंका आकाश छूने लगती है। जहाँ काट-छाँट अथवा अस्पष्टता के कारण कोई शब्द उसके पढ़ने में कठिनाई हुई, वहीं वह अपनी प्रतिभा का प्रमाण देने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। परिणामतः मूल पाण्डुलिपि से उपलब्ध प्रतिलिपि तक पहुँचते-पहुँचते सैकड़ों भूलें आलेख में जुड़ जाती हैं। कोई प्रतिलिपि अपनी मूल पाण्डुलिपि से जितना दूर होगी, अपनी ही अधिक भूलें उसमें होने की सम्भावना की जा सकती है। दूसरी ओर स्मृति-रक्षित साहित्य तो मिलता है लिपिकारों की कृपा से है। यदि उन्हें स्मृति की वादियों से लौटकर उसे लिखित सज्जा न दी होती तो स्यात् वह पूर्णतः नष्ट ही हो गया होता। ऐसे साहित्य में मूल से भिन्नता आना अथवा अवांछित अनपेक्षित परिवर्तनों का आ जाना सहज ही तो है। पाठशोध का लक्ष्य इन परिवर्तनों भूलों, अभावों एवं लिपिकारों के प्रमाद के परिणाम को दूर करके उपलब्ध प्रतिलिपियों को यथा सम्भव मूल पाण्डुलिपि के निकटतर लाने का होता है। ऐसा करने में जिस प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है, वही पाठानुसंधान की प्रक्रिया होती है।

पाठानुसंधान का प्रश्न वहीं उठता है, जहाँ रचयिता के अपने हाथ से लिखी मूल पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं होती। मूल पाण्डुलिपि की नकलों के अनेक रूप हो सकते हैं—1. मूल पाण्डुलिपि से सावधानी पूर्वक बनाई गई दूसरी नकल, इसे मूल की प्रति

अथवा प्रति कहा जा सकता है। 2 प्रति से बनाई गई दूसरी-तीसरी-चौथी आदि नकलें, इन्हें प्रतिलिपियां कहा जायगा। 3 बहुधा जब 'क' मूल पाण्डुलिपि से ही दो अलग अलग प्रतियां 'ख' और 'ग' बनाई जाती हैं और तदोपरान्त समय आने पर उन दोनों से अलग प्रतिलिपियां होने लगती है। ये प्रतिलिपियां अलग शाखाओं की प्रतिलिपियां कहलाती हैं क्योंकि इनमें प्रति में रह जाने वाली भूलें एक समान होने की सम्भावना होती है। प्राय प्रतिलिपिकार मूल पाण्डुलिपि की सही नकल करने में असमर्थ रहता है। प्रमाद अथवा असावधानीवश कुछ शब्दों/पदों का छूट जाना, वर्णों/मात्राओं का बदल जाना अथवा समानार्थक शब्दों के प्रयोग प्रतिलिपियों में सम्मिलित हो जाते हैं। प्रतिलिपिकार का आदर्श मार्ग 'मक्खी पर मक्खी मारना' होता है—अतः हमारी दृष्टि में प्रतिलिपिकार अधिक विद्वान नहीं होना चाहिए, साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति एक विद्वान की अपेक्षा उत्तम प्रतिलिपि तैयार कर सकता है। उन दशाओं में जब लेखक स्वयं अपनी रचना को सजा-संवार कर एक नवीन पाण्डुलिपि तैयार कर लेता है, तो गड़बड़ की सम्भावना बढ़ जाती है। यहां मूल हस्तलेख ही दो हो जाते हैं। कुछ प्रतियां या प्रतिलिपियां मूल पाण्डुलिपि से तैयार हुई होती हैं और कुछ अन्य अब संशोधित पाण्डुलिपि से होने लगती हैं। स्वभाविक ही है कि ये दोनों धाराओं की प्रतिलिपियों में आगे चलकर परम्पर मेल न बैठे। यह स्थिति पाठ शोधार्थी के लिए अधिक सिरदर्द है। सम्भव है कि उसकी खोज का अन्त वहां जाकर हो, जहां प्रथम स्थिति में लेखक ने पाण्डुलिपि तैयार की थी। एस में सशोधित कृति का पता चलने पर अनुसंधित्सु के लिए गम्भीर श्रम की चुनौती पुनः खड़ी होगी। लेखक समय-समय एवं अलग-अलग रचनाओं में भिन्न स्तर की भाषाओं का प्रयोग भी करता है। बहुत ही हल्की फुल्की भाषा लिखने वाले साहित्यकार भी अपनी किसी विशिष्ट रचना में भाषा को मांज सकते हैं। यह स्थिति पाठालोचक के लिए कष्ट साध्य होगी।

किसी भी प्राचीन लेखक की प्रकाशित अथवा अप्रकाशित रचना के पाठ निर्धारण का कार्य शोधार्थी का विषय बन सकता है। यह पर्याप्त श्रम साध्य कार्य है, इसके लिए शोधार्थी को परिश्रमी, धैर्यशील एवं नाना पुराण निगमागम, भाषाओं, लिपियों एवं शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। साहित्येतर विषयों में भी उसकी पैठ अनिवार्य है, ताकि वह अपने आलोच्य पाठ में आने वाले प्रत्येक उद्धरण प्रसंग को भलीभांति समझ सके और उसका सही तथा उपयुक्त सदर्भ निश्चित कर सके। डॉ माताप्रसाद गुप्त ने 'रामचरित मानस' का पाठ-निर्धारण कार्य करते हुए ऐसी अनेक बातों की ओर ध्यानाकर्षित किया है जो सम्भवत सामान्य पाठक के लिए महत्वहीन हों। किन्तु विद्वानों की श्रेणी में बैठने वाला व्यक्ति उनके उस धैर्य एवं कलापूर्ण कार्य की सराहना किए बिना नहीं रह सकता।

अब हम पाठ निर्धारण का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। इसकी चर्चा हम दो भागों में करते हैं—प्रथम प्रकाशित रचनाओं का पाठ-निर्धारण और तत्पश्चात् अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का पाठशोध।

(i) प्रकाशित ग्रन्थों का पाठ-निर्धारण

जो अनुसंधित्सु किसी प्राचीन कवि की किसी एक अथवा सामूहिक रूप से समूची रचना का पाठ-निर्धारण करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम कवि द्वारा रचित सभी *प्रकाशित अप्रकाशित* रचनाएं तथा उनकी प्रतियां-प्रतिलिपियां एकत्रित करनी चाहिए। उसे ऐसे ग्रन्थों का भी संग्रह करना होगा, जिनमें उस ग्रन्थ के उद्धरण दिए गए हों—ग्रन्थ की टीकाओं, यदि हो, कि आवश्यकता भी पड सकती है। टीकाओं में प्राय मूल पाठ होता अथवा बीच-बीच से कुछ पंक्तियां उद्धृत की हुई होती है। टीकाओं से हमें मूल लेखक के विचारों का ज्ञान होता है जोकि उसके पाठ निर्धारण में सहायक है। आलोच्यग्रन्थ के यदि कुछ अनुवाद कभी किसी विदेशी भाषा में हुए हों, तो वे पाठ-निर्धारण में बहुत बडी भूमिका निभा सकते हैं। 'भांडारकर शोध-संस्थान, पूने' म महाभारत के पाठ-निर्धारण म जर्मनी तथा तेलुगु के प्राचीन अनुवादों से अत्यधिक सहायक प्राप्त हुई है। आलोच्यग्रन्थ से सम्बद्ध सभी आरमन सामग्री उसके समय, कलात्मकता, भाषा आदि का परिचय देती है। अप्रकाशित प्रतिलिपियों में प्राय पुष्पिका के माध्यम से हमें मूलग्रन्थ अथवा प्रतिलिपिकाल का ज्ञान हो सकता है। यह समूची सामग्री आलोच्यग्रन्थ के पाठ-निर्धारण के संदर्भ में सहायक सामग्री होती है। यदि आलोच्यग्रन्थ की केवल एक ही प्रति प्राप्त हो तो उसी काल के अन्य सब ग्रन्थों को भी संदर्भ ग्रन्थ बनाकर देख जाने की आवश्यकता रहती है। इससे लेखन की विशेष पद्धति के संकेत मिल सकते हैं। एक ही काल की एकाधिक पाण्डुलिपियों में यदि 'आ' की मात्रा 'खडी पाई' के स्थान पर 'बिन्दु' माना मिले, तो हमें स्वीकार कर लेना होगा कि हमारे आलोच्य पाठ में भी वह शुद्ध ही होगा, अन्यथा सम्भव है 'बिन्दु' प्रतिलिपिकार की देन हो। अनेक सज्ञा शब्द पाण्डु-लिपियों मे अनुनासिक बनाए गए दीख पडते हैं। कवि वहां अनुनासिक को लक्ष्य कर रहा है या शिरोरेखा पर बिंदु देने की मात्र लेखन-पद्धति ही थी, यह उसी काल की अन्य पाण्डुलिपियों की सहायता से ही निश्चित किया जा सकता है। ऐसी रचनाएं जो बीच-बीच में खण्डित है, वे भी पाठ निर्धारण के कार्यक्रम में सहायक हो सकती है किन्तु उनका लुप्त अ श पुन उसी स्थिति मे प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

अब उक्त सहायक सामग्री का सही तथा कालक्रमानुसार विश्लेषण करते हुए *शोधार्थी* अपने आलोच्य पाठ में शब्द-लोप, परिवर्तन, वर्ण-लोप अथवा वर्णागम, विपर्यय, संक्षेप, प्रक्षेप आदि दोषों की खोज बीन कर सकता है। उदाहरणार्थ डॉ योगेन्द्रसिंह ने पिछले दिनों 'रैदास' वाणी का एक सकलन 'अक्षर' म प्रकाशित किया। उसम एक पद अनुचित पद-विन्यास क कारण इस प्रकार लिखा गया—

गुरु को शब्द और सुरक्षित कुताली, खोदत कोई लहै रे।
राम कहो तौ बढौ न आपो, सोने कूल बहै र ॥6 63॥

इसके अन्तिम चरण को यदि सही ढंग से विन्यास दिया जाता (सो नेकू लखहै र), तो न केवल उसका स्वरूप ही सुधरता, बल्कि पद का अर्थ सुगमता पूर्वक हृदयगम हो सकता और गुरु रविदास की चेतना भी स्पष्ट हो पाती। लोप-दोष का तो एकमात्र उपचार ही एकाधिक प्रतिलिपियो को देख जाना है। इन पंक्तियों के लेखक ने पिछले दिनों गुरु गोविन्दसिंहजी के समकालीन कवि कृष्णलाल की एक रचना 'रामचरित्र' का सम्पादन किया। यह रचना महाभारत के 'वन-पर्व' के अन्तर्गत आए 'रामोपाख्यान' सदर्भ का स्वतन्त्र और पद्यात्मक भाषानुवाद है। कवि कृष्णलाल ने महाभारत के अनेक पर्वो को भाषा-पद्य में अनूदित किया है। 'रामचरित्र' की जो पाण्डुलिपि सर्वप्रथम प्राप्त हुई, वह किसी प्रतिलिपिकार की असावधानी की शिकार थी। समूची रचना में लगभग चार चरण अलग-अलग स्थानों से लुप्त थे। उस युग की अन्य अनेक रचनाएँ गुरु-दरबार के कवियों की उपलब्ध हैं, किन्तु लुप्त चरण जुटा पाना उनके सामर्थ्य में न था। प्रयास करने पर जब मूल वन-पर्व का अनुवाद ही हाथ लगा, तो वे लुप्तांश पूर्ण कर सकने में कुछ क्षण ही लगे होंगे। इसी प्रकार वर्णागम और विपर्यय के दोषों को भी सहायक सामग्री से दूर किया जा सकता है। मान लीजिए किसी समकालीन कवि अथवा आलोचक ने कुछ विशिष्ट पंक्तियाँ उद्धृत की हों—उस उद्धरण में वे पंक्तियाँ शुद्ध बन गई हों, जबकि प्रतिलिपियों में उन्हीं पंक्तियों में कहीं वर्णागम या विपर्यय के दोष आ गया हो, तो ऐसे उक्त दोषों को दूर करने में हमें क्या कठिनाई होगी ?

मात्रा दोषों का मूल कारण प्रायः लिपि-भेद होता है। उपलब्ध पाण्डुलिपियाँ देवनागरी और फारसी लिपियों में हैं। प्रादेशिक हिन्दी साहित्य प्रायः प्रदेश-विशेष में प्रयुक्त लिपि में लिखा जाता रहा है, यथा पंजाबी, गुजराती आदि। पंजाबी लिपि में लिखी व्रजभाषा एवं फारसी लिपि में लिखी व्रजभाषा को जब देवनागरी में लिप्यन्तरित किया जाता है तो मात्राओं की भिन्नता का प्रश्न सम्मुख आता है। फारसी में 'जेर', 'जबर', 'पेश', आदि चिन्ह होते हुए भी लिखने का कम प्रचलन कम है, इसीलिए ह्रस्व 'इ' या 'उ' की मात्राएं छूटने की सम्भावना बनती है—'वहाँ छिलके', 'छलके' और 'छुलके' एक ही प्रकार से लिखा मिल सकता है, शायद कहीं 'चहलक' भी पढ़ा जा सके। पंजाबी लिपि में द्रुत के लिए शिरोरेखा के ऊपर अर्द्धचन्द्र का चिह्न लगाया जाता है। देवनागरी करने वाले से भूल की आशंका सदैव बनी रहती है। 'या' का 'इया' लिखने की परिपाटी भी देवनागरी में अटकाव बन सकती है। तात्पर्य यह कि *लिप्यन्तरित पाण्डुलिपियों का पाठ निर्धारण करते समय उनकी मूल लिपि का ध्यान* रखते हुए उसके अनेक दोषों का निराकरण सम्भव है।

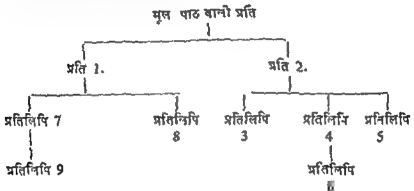
(ii) अप्रकाशित ग्रन्थों का पाठ निर्धारण—

अप्रकाशित पाण्डुलिपि के पाठ निर्धारण का प्रश्न उसी दशा में उठता है, जब लेखक की मूल हस्तलिखित प्रति अनुपलब्ध होती है। ऐसी स्थिति बहुत कम देखने में

आती है, जहां लेखक अपनी हस्तलिखित रचना को स्वयं ही काट-छांट तथा संशोधन कर एक नयी पाण्डुलिपि तैयार कर लेता है। इस दिशा में शोध करने वाले अध्येता को लेखक की भाषा-शैली के सर्वांगीण विश्लेषण द्वारा अलग अलग प्रतियों एवं प्रतिलिपियों के मिलान द्वारा प्रमुख पाठ को निश्चित करना होता है, जो मूलत लेखक का होगा अथवा लेखक के मूल पाठ से निकटतम हो। बहुधा ऐसी खण्डित पाण्डुलिपियां भी हाथ लगती है, जिनके कुछ पन्ने अप्राप्य होते है, या बीच-बीच में जर्जरित होने के कारण कागज अथवा भूर्जपत्र नष्ट हो चुका होता है। शिलालेखों के पाठ निर्धारण में भी इस समस्या का सामना होता है। हिन्दी में स्व डॉ माता प्रसाद गुप्त ने शिलालेखों पर लिखी गई एसी ही कृति 'राउलवेल' का पाठ-निर्धारण किया है। यह रचना 11वीं शती में लिखा एक प्रेमकाव्य है। इसका लेखक कोई रोड कवि है। यह मिश्रित रचना है इसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश है। इसमें किसी सामंत की सात पत्नियों का जो भिन्न प्रान्तों से सम्बन्धित है नखशिख चित्रण किया गया है। शिला के खण्डित होने के कारण इसकी रचना तिथि निश्चित करना दुष्कर था, किन्तु डॉ गुप्त ने सहायक सामग्री की सहायता से 'राउल-वेल' का रचना काल भी निश्चित कर दिया है। तात्पर्य यह कि किसी भी पाण्डुलिपि का पाठोद्धार करने के लिए उसकी समस्त उपलब्ध प्रतियों प्रतिलिपियों को एकत्रित करना अनिवार्य है। सहायक सामग्री वही होगी जो प्रकाशित ग्रन्थ के पाठ निर्धारण में प्रयुक्त करने का सुझाव दिया जा चुका है। रचना के शब्द रूप, वाक्य विन्यास, मात्राओं आदि के प्रयोग को रचयिता के रचना काल की सामान्य प्रवृत्ति से मिलाया और उसके अनुसार शोध किया जा सकता है।

मान लीजिए हमें साधु गुलाबसिंह की 'अध्यात्मक रामायण' अथवा कवि साहिबसिंह मगेन्द्र की कृति 'कृष्ण कौतूहल' का पाठ-निर्धारण करना है। दोनों पाण्डुलिपियों की एकाधिक प्रतियां एवं प्रतिलिपियां उपलब्ध है। ऐसे में सर्वप्रथम सम्पादक शोधार्थी को प्रतियों/प्रतिलिपियों के लेखन काल को जांच कर (जो कि प्राय पुष्पिका का अथवा आदि अन्त में कहीं न कहीं दिया रहता है) उन्हें क्रम देना चाहिए। पुनः उनका पारस्परिक मिलान करके पूर्णत एक सी प्रतियों को अलग करना होगा। ऐसा करने से यह ज्ञात होगा कि व समान प्रतियां किसी एक पाण्डुलिपि की नकल होगी। जिनमें विषमता है, वे अलग शाखाओं की प्रतियां से सम्बन्धित हो सकती हैं। ऐसे निष्कर्षों के उपरांत हमारे पास एक क्रमिक जानकारी होगी, यथा—हमे कुल 9 प्रतिलिपियां प्राप्त हो सकी हैं। कालक्रम से जांच करने के उपरांत हम उन्हें क्रम संख्या 1 और 2 मूल से की गई प्रतियां हैं क्योंकि मिलान करने पर उसकी भाषा तथा शब्दप्रयोग अक्षरश समान हैं—किन्तु फिर भी वर्ण-लोप या वर्णागम, च्युति, प्रक्षेप आदि सरीखे अति सामान्य दोषों का आलेख्य तैयार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि क्रम संख्या 3, 4, 5, और 6 का एक समूह है, तथा क्रम 7, 8 तथा 9 का दूसरा

समूह। प्रथम समूह मे प्रति सख्या 2 से की गई नकलें मौजूद है तथा द्वितीय समूह मे प्रति सख्या 1 की नक्लें शामिल हैं। इस प्रकार प्रति 9 क्योंकि प्रतिलिपि 7 से तथा प्रति 6 क्योंकि प्रतिलिपि 4 से अधिक समानता रखती है, इसलिए वे उक्त प्रतिलिपियो की ही नकलें हैं, यह सिद्ध होता है। अब सम्पादक का कर्त्तव्य है कि वह नीचे से ऊपर की ओर बढता हुआ तुलना, मिलान एव सहायक सामग्री के प्रयोग द्वारा पाठ मे आने वाली छोटी से छोटी भूल को भी परिष्कृत करता हुआ जिस निष्कर्ष पर पहुचेगा, वही आदर्श मूल पाठ की प्रति बन सकेगी।



(II) पाण्डुलिपियो मे विकृतियो के कारण तथा उनका वर्गीकरण

हस्तलिखित रचनाओ की प्रतिलिपिया बनाते समय अनेक विकृतिया पैदा हो जाती हैं। आलेख को नकल करते समय प्रायः ऊपर एव नीचे की पक्ति मे किसी शब्द-साम्य के कारण लिपिक ऊपर की पक्ति बीच मे ही छोड नीचे की पक्ति लिखने लगता है। परिणाम यह होता है कि प्रतिलिपि मे पूरी अथवा आधी पक्ति छूट जाती है। यह स्थिति लिपिक की असावधानी तथा वर्ण-साम्य से भी आ सकती है। असावधानी के कारण बीच की कोई पक्ति छूट जाना या वर्ण-साम्य के कारण बीच के कुछ शब्दो का प्रतिलिपि मे न लिखा जाना, ऐसी विकृतिया हैं जिनका निराकरण केवल सावधानी एव 'मक्खी पर मक्खी मारने' की प्रवृत्ति से ही सम्भव है।

सामासिक शब्दो के अशुद्ध विग्रह से भी पाठ मे विकार पैदा हो सकता है। पा-पकर को पाप-कर बना देने से अर्थ मे आकाश-पाताल का अन्तर आ जाना स्वाभाविक ही है।

नामवाची सज्ञाओ मे लिप्यन्तरण के कारण प्राय विकार पैदा हो जाते है— पजाबी मे 'कॉमर्स' का 'कामरस' लिखा जाता है। हिन्दी मे 'रामाकृष्ण मिशन' अग्रेजी के वर्ण-विन्यास के कारण है, अन्यथा सही शब्द 'रामकृष्ण' है। प्राय लोगो

के नाम के सग 'गुप्ता' लगाया जाता है। यह भी अ ग्रे जी प्रचलन का परिणाम है— हिन्दी मे तो यह स्त्रीलिंग सज्ञा होगी।

डॉ एस एम कत्रे ने 'भरतीय पाठालोचन की भूमिका'[1] मे पाठ मे आने वाली त्रुटियों के तीन वर्ग स्वीकार किए हैं—1 विभ्रान्तियां (Coufusions) और उनके परिहार के प्रयत्न। 2 लोप (Omssion) तथा 3 वृद्धि (Addition)।

प्रथम वर्ग मे डॉ कत्रे ने तेरह प्रकार की विभ्रान्तियो का निर्देश दिया है, जोकि निम्नानुसार है—

(क) "समान वर्णों एव अक्षरो के सम्बन्ध मे असावधानीवश आ जाने वाली भ्रान्ति।"

(ख) "साधारणत एक-जैसा दिखने वाले शब्दो का अशुद्ध लेखन।"

(ग) "सक्षिप्त रूपो के अर्थ मे भ्रम होना।"

(घ) "गलत सामासिक विग्रह।"

(ड) "शब्दो के अन्त्याक्षर को अशुद्ध रीति से मिलाना और एक शब्द को दूसरे शब्द या वाक्य मे मिलाना"। उदाहरणार्थ मैने एक जगह पढा— "सेना आगे निकल गई थी, पीछे तो पखाने की गाडिया रह गई थी।" यहाँ अन्तिम वाक्यांश मे 'प' 'खाने' के साथ मिल गया, 'तो' के अन्त में लगना चाहिए था—'पीछे तोप खाने की गाडियाँ रह गई थी।'

(च) "वर्णों, शब्दो एव वाक्यो का क्रम परिवर्तन, वाक्यो, खण्डो, एव पृष्ठो का विस्थापन।" यथा असावधानी के कारण एक पाण्डुलिपि मे 'नसीबा' की जगह 'नवीसा' लिखा मिला है।

(छ) "प्राकृत अथवा आधुनिक भाषाओ मे सस्कृत का अशुद्ध प्रयोग और प्राकृत अथवा आधुनिक भाषाओ के अ शो का सस्कृत मे अशुद्ध प्रयोग।"

(ज) "उच्चारण-परिवर्तन के कारण अशुद्धियां। ऐसी अशुद्धियो की अधिकतर सम्भावना तब होती है, जबकि पठानुसधित्सु किसी लिपि विशेष मे परिचित नहीं होता और किसी अन्य वाचक से पढवा कर सुनता है। ऐसी स्थिति मे ज, ज, व, ब, स, श और मात्राओ के साधारण अन्तर अकस्मात् जन्मते चलते हैं।

(झ) "अ को मे विभ्रान्ति।"

---

1 यह पुस्तक मूलत डॉ कत्रे की अ ग्रे जी पुस्तक 'Intaduction to Indian Textual Criticism' का डॉ उदयनारायण तिवारी द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद है जिसे मध्यप्रदेश ग्रन्थ हिन्दी अकादमी, भोपाल ने प्रकाशित किया है।

(ञ) "नामवाची संज्ञाओं में विभ्रान्ति"—जैसे अंग्रेजी में लिखे Dr S M KATRE को इसी पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर अनुवादक ने लिखा है 'डॉ एस एम कात्रे'। यहाँ 'डॉ एस एम कत्रे' चाहिए थे। यह भ्रान्ति मराठी उपनामों से अपरिचित होने एवं अंग्रेजी वर्ण-विन्यास में 'A' को 'अ' की अपेक्षा 'आ' पढ़ने की मिथ्या प्रवृत्ति के कारण उदित हुई है।

(ट) "अपरिचित शब्दों के लिए परिचित पर्याय या शब्द का प्रयोग"—इस सम्बन्ध में डॉ विजय मोहन शर्मा ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'शोध-प्रविधि' में 'आंसू' से एक उदाहरण जुटाते हुए सुन्दर व्याख्या की है। वे लिखते हैं—

'रो-रोकर सिसक सिसक कर,
कहता मैं करुण कहानी।
तुम सुमन नोचते जाते,
करते जानी अनजानी' ॥

"इन पंक्तियों में एक चित्र खींचा गया है। उद्यान में प्रेमी और प्रेमिका खड़े हैं। प्रेमी प्रेमिका से प्रेम निवेदन करता है–रो-रोकर, सिसक सिसक कर–किन्तु प्रेमिका खड़ी सुमन की पखुड़ियां को नोचती जाती है और उपेक्षाभाव दिखाती है। इस पर क्षुब्ध प्रेमी कहता है—"तुम जानबूझ कर सुमन नहीं सु-मन को मसल रही हो"। सुमन में श्लेष है। प्रेमी अपने मन को सुमन–सुन्दर मन इसलिए कहता है कि उसमें उसकी प्रेमिका का अधिवास है। अब यदि 'सुमन' के स्थान पर इसका पर्याय 'कुसुम' रख दिया तो कवि का सारा भाव-सौंदर्य ही नष्ट हो जायगा। 'सुमन' शब्द ने ही उसमें सौरभ भरा है। इसीलिए कहा गया है कि प्रतिलिपिकार को मूल प्रतिलिपि के शब्दों में परिवर्तन करने का साहस नहीं करना चाहिए"।

(ठ) "पुरानी वर्तनी के स्थान पर नवीन वर्तनी का प्रयोग"।

(ड) क्षेपक अथवा अजनान में हुई भूलों के परिणामों में सुधार करने का प्रयत्न।

द्वितीय वर्ग 'लोप' का है। इसमें डॉ एस एम कत्रे ने निम्न प्रकार के लोपों की गणना की है—

(i) "(लेखन में) समाक्षर-लोप (Haplology) या एक ही शब्द या अक्षरों से आरम्भ तथा अन्त होने वाले शब्दों को छोड़ देना"।

(ii) "अक्षर लोप (Lipography) या किसी भी प्रकार का सामान्य लोप"।

तीसरा वर्ग 'वृद्धि' का संकेत करता है—

(अ) "पास अथवा अति निकट के छन्द या पाठ की पुनरावृत्ति।"

(आ) "दो पंक्तियों के बीच अथवा हाशिया में अपनी ओर से कुछ जोड़ना।"

(इ) "प्रक्षिप्त पाठ या प्रक्षेप"।

(ई) एक ही प्रकार की लिखावट के प्रभाव के कारण पाठ में अभिवृद्धि हो होना।

प्रतिलिपि तैयार करते समय उपर्युक्त प्रकार की भूलों से अत्यन्त सावधानी पूर्वक बचने की अपेक्षा रहती है। सामान्यत प्रकट होने वाली भूलों को पुन ऐच्छिक एवं अनैच्छिक दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ऐच्छिक भूलों का कारण प्रतिलिपिकार का अज्ञान तथा अधिक ज्ञान, दोनों हो सकते हैं। सम्भव है किसी विशेष शब्द को न जानने के कारण वह शब्द-परिवर्तन कर दे, अथवा अपने ज्ञान पर अधिक विश्वस्त होने पर वह मूल लेखक द्वारा प्रयुक्त शब्द को अशु प्रयोग मानकर सुधारने का दुस्साहस कर बैठे। इस प्रकार उत्पन्न भूलें ऐच्छिक कहलाएंगी। इसी प्रकार थोड़ी असावधानी या दृष्टिदोष के कारण आने वाली भूलें अनैच्छिक कही जायगी। अकस्मात् किसी पंक्ति, वाक्यांश या शब्द का लिखने से छूट जाना अथवा 'स्य' का 'च्य' लिखा जाना, 'ख' का 'रव' लिखा जाना आदि दृष्टि-दोष के कारण हो सकता है।

पाण्डुलिपि के पाठ में आने वाली भूलों को हिन्दी के प्रसिद्ध पाठलोचक डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने आठ वर्गों में विभाजित किया है—

1. सचेष्ट पाठ विकृत—ऊपर हमने इन्हीं विकृतियों को ऐच्छिक भूलें कहा है।

2. लिपि-जनित—लिपि से अनभिज्ञ होने के कारण यह भूलें बनती हैं, जैसे उर्दू में लिखा 'विश्व' देवनागरीकरण में 'विश' हो सकता है।

3 भाषा-जनित—किसी भाषा का सही ज्ञान न होने के कारण ये भूलें होती हैं, यथा मराठी के मूलगावकर को मूलगाँवकर पढ़ना और लिखना।

4 छन्द-जनित—इसमें मात्रा अथवा वर्णादि का लोप या वृद्धि की सम्भावना रहती है।

5 प्रतिलिपि-जनित—प्रतिलिपिकार की असावधानी से आ जाने वाली भूलें।

6 लेखन-सामग्री जनित—दूषित सामग्री द्वारा स्याही के फैलने, लेखनी के फटी होने या या हड़ताल के अव्यवस्थित से आने वाली भूलें।

7. प्रक्षेप-जननित—अकारण अपनी ओर से जोड़ी सामग्री।

8 पाठान्तर-जनित—प्रतिलिपि बनाते समय आने वाली भूलें।

डॉ. मानाप्रसाद गुप्त का विश्वास है कि पाठालोचन करते एव आदर्श पाठ-निर्धारण करते समय यदि उपर्युक्त आठो वर्गो की भूला का ध्यान-पूर्वक निराकरण किया जाय तो पाठानुसंधित्सु सही पाठ-निर्माण करने मे सफल हो सकता है।

(iv) पाण्डुलिपियों की विभिन्न उपलब्ध प्रतिलिपियो को मिलाने का ढग

जब किसी ग्रन्थ की एकाधिक प्रतिलिपिया उपलब्ध होती हैं तो उसके सही पाठ निर्धारण एव पाठ-सशोधन के लिए अनेक प्रणालिया सुझाई गई हैं। सर्वप्रथम पद्धति 'परितुलन' कहलाती है। इसमें उपलब्ध हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ एव अन्य सब सहायक सामग्री को एकत्रित करके पाठ के किसी छोटे अ श को इकाई मानते हुए, समूचे ग्रन्थ के पाठ को उन इकाइयो मे बाट कर कार्डों पर लिख लेना चाहिए। इस सभी उपलब्ध पाण्डुलिपियो के पाठो का विभाजन कर प्रत्यक इकाई का अलग कार्ड बन जाना चाहिए। अब प्रत्येक कार्ड एक विशेष पाठ-इकाई के लिए परितुलन-सम्भावना प्रस्तुत कर सकेगा। डॉ सुक्टनकर तथा श्री एडगर्टन ने क्रमश महाभारत के आदिपर्व के उपोद्‌घात एव पचतत्र की भूमिका मे परितुलन के कुछ व्यवहारिक सुझाव दिए हैं[1]—"जब किसी काव्य-ग्रन्थ की समीक्षा करनी हो तो किसी एक अच्छे सस्करण को आधारभूत मानकर कविता के एक-एक पद को इकाई मानना चाहिए और उन्हे स्पष्ट रूप मे वर्णक्रम के अनुसार कोष्ठको में पृथक-पृथक कागज पर ऊपर वाले हिस्से मे लिखना चाहिए। जिन पदो मे भेद होगा, उन्हे कागज के नीचे वाले हिस्से में सम्बन्धित पद के नीचे वर्णक्रम के अनुसार कोष्ठको मे लिखना चाहिए। कागज के बाए हाशिये प्रत्येक कोष्ठक के साथ उन हस्तलिखित प्रतियो का नाम होगा जिनका परितुलन हुआ हो और दाहिने हाशिये मे कुछ अन्य अतिरिक्त जानकारी लिखने के लिए खाली स्थान सुरक्षित रखा जायगा।

इस प्रकार यदि परितुलन प्रणाली को अपनाकर एकाधिक प्रतिलिपियो की तुलना की जाय तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने एव पाण्डुलिपि की प्रतिलिपियो का वश-वृक्ष तैयार करने मे सहायता मिलती है।

परितुलन प्रणाली को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहा एक रेखा-चित्र प्रस्तुत किया जाता है। प्रतिलिपियों का काल-क्रम निश्चित हो जाने के उपरान्त उन्हें 1, 2, 3, 4, आदि क्रम दिया जा सकता है। श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने बिहारी सतसई के पाठ सशोधन मे सही पाठ की खोज करते हुए परितुलन प्रणाली का आश्रय लिया है। प्रत्येक क्रम की प्रतिलिपि की पक्तियों को शब्दो अथवा वाक्याशो की

---

1 डॉ एम. एम. कत्रे द्वारा 'भारतीय पाठालोचन की भूमिका' मे पृ 36 पर उद्‌धृत।

अध्याय 4

शोध की प्रायोगिक विधियां

साहित्यिक शोध, में प्राय बहुत कम अवसर ऐसे आते हैं, जब शोध की प्रायोगिक विधियों का आश्रय लेना पड़ता है। क्योंकि यह वैज्ञानिक विधि है, इसलिए इसका प्रयोग भी तभी सम्भव होता है, जब साहित्य का अध्ययन किसी वैज्ञानिक पहलू से किया जा रहा हो। मनोवैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्रीय पक्षों को लक्ष्य करना हो, अथवा जब किसी अन्य सुगम ढग से लोगा की धारणा या आन्तरिक मान्यताओं का सही पता न लग सकता हो तभी प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। अधिकाश साहित्यिक शोध, अनुशीलन-अध्ययन आदि म प्रयोग को कोई अवकाश नही होता। यही कारण है कि जब साहित्यिक स्तर पर भी हम प्रायोगिक विधियों की चर्चा करते हैं, तो हमें विज्ञान के ही किसी-न-किसी अ ग का दामन पकडना पड़ता है। वैज्ञानिक अध्ययनो मे यो तो शोध की आधार सामग्री (Research Data) एकत्रित करने के अनेक ढग हैं किन्तु 'प्रश्नावली' तथा 'साक्षात्कार' ही ऐसी दो विशिष्ट विधियां हैं, जो प्रयोग-स्तर पर साहित्याध्ययन मे भी सहयोगी हो सकती हैं।

प्रश्नावली विधि—प्रश्नावली लोगो से अपेक्षित जानकारी प्राप्त करने के लिए निश्चित प्रश्नो का एक समूह होता है, जिनके उत्तर प्रायोगिक दल (Experimental group) ने स्वय अपनी धारणा, मान्यता या सूझ के अनुसार देने होते हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र मे तो इसका प्रयोग तब किया जाता है, जब किसी निर्णय पर पहुचने के लिए प्रयोगशाला के निष्कर्ष भी असफल हो जाते हैं, जबकि साहित्यिक अध्ययन मे दूसरों की सम्मतियां, छन्दो-अलकारो के निर्णय, प्रभाववादी समीक्षा–दृष्टि, पाठ–निर्धारण या पाठ–शोध मे विशिष्ट शब्दा/वाक्याशो पर विद्वानो के मत आदि सग्रह करने के लिए यह एक सहायक विधि है। साहित्य मे नवीन जीवन-मूल्यो, बदलते हुए मानो, समसामयिक एव विवादास्पद विषयो पर भी कोई निर्णय लेत समय–प्रश्नावली सहयोगी हो सकती है। प्रश्नावली विधि का एक महत्वपूर्ण उपकरण बन सकती है, यदि श्रमपूर्वक एव उपयुक्त शब्दा मे प्रश्नो का चुनाव किया गया हो, यदि उसकी उचित विज्ञप्ति हो तथा उपयुक्त विद्वानों के पास ही उसे भेजा जाय, यदि प्रश्नावली के साथ सानुरोध निवेदन-पत्र हो, यदि प्रश्नो को वैज्ञानिक क्रम मे वर्गीकृत करने साफ-सुथरा मुद्रित या टकित किया गया हो, यदि प्राप्त उत्तरों को बुद्धिमत्ता पूर्वक साधारणीकृत करके विश्लेषण किया गया हो।

प्रश्नावली प्रस्तुत करते समय प्रायोगिक दल के सम्बन्ध मे निम्न बातो का ध्यान रखना चाहिए—1 प्रायोगिक दल की प्रतिष्ठा 2 प्रश्नावली प्रस्तुतकर्त्ता द्वारा स्थिति पर प्रकाश डालना, 3 प्रायोगिकदल को शोध का प्रयोजन बताना 4 प्रश्नावली का सक्षिप्त और स्पष्ट होना, 5 प्रश्नावली के उत्तर देने के लिए पर्याप्त समय निश्चित करना 6 उत्तर न देने वालो को यथा समय स्मरण-पत्र भिजवाना 7. प्रायोगिक दल को उनके व्यक्तिगत उत्तरो को गोपनीय रखने का विश्वास दिलाना तथा 8 अनुकूल पात्रो से सही प्रार्थना करना।

प्रश्नावली विधि के अनेक लाभ सम्भव हैं। सर्वप्रथम लाभ समय तथा धन की बचत का है। अनुसधाता इस विधि के माध्यम से देश के दूरवर्ती क्षेत्रो मे रहने वाले विद्वानो से व्यक्तिगत रूप मे मिले बिना ही उनकी सम्मति प्राप्त कर सकता है। डाक के द्वारा उनका मत पाच सात दिन मे ही जाना जा सकता है, जबकि यदि शोधार्थी को स्वय उनसे मिलना होता तो कई दिन तक उसे अपने शोध-कार्य से विमुख रहना पडता और यात्रा-व्यय के रूप मे पर्याप्त धन भी लगाना पडता है। पुन प्रश्नावली तैयार करने मे एक ही बार समय लगा देने पर बार-बार अलग व्यक्तियो के पास जाकर माथा-पच्ची करने की आवश्यकता नही रहती। प्रश्नावली तैयार हो जाने पर कोई सहायक भी पत्र-व्यवहार का बोझ वहन कर सकता है। इस पद्धति मे प्रायोगिक दल का ध्यान भी मुख्य अपेक्षाओ पर ही केन्द्रित रहता है। उत्तर-दाता इधर-उधर की व्यर्थ चर्चा में न उलझ कर प्रश्न का सीधा स्पष्ट उत्तर देते हैं, जिससे अध्येता को विश्लेषण मे अनुकूल सुविधा होती है। प्रश्नावली विधि का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इसमें प्रायोगिक दल को उसी दम बातचीत के लिए बाधित नही किया जाता है। जब भी उत्तरदाता का मूड हो, वह बैठकर प्रश्नावली के उत्तर लिख सकता है। इस दशा मे वह प्रश्नो को सर्वांगीण महत्व देते हुए गम्भीरतापूर्वक कार्य करता है। यदि प्रश्नावली को साक्षात्कार के साथ मिला लिया जाय तो किसी भी प्रकार की जिज्ञासा का सहज शमन वही सम्भव हो सकता है। ऐसा करने से बात अधिक स्पष्ट होकर उजागर हो पाती है।

उक्त विधि मे जहा कुछ लाभ हैं, वही कदाचित् कुछ अभाव भी हैं। यह सही है। कि इसका प्रयोग मासूम बच्चो या अनपढ लोगों पर नही किया जा सकता, परन्तु साहित्यिक क्षेत्र मे इसकी कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं रहती। साहित्य दिशा मे इसका मूल अभाव है वह सम्भावना, जिसमे उत्तरदाता द्वारा प्रश्नकर्त्ता के भाव को गलत समझ लिया जाता है। ऐसे मे 'महादेवी की रहस्यात्मक धारणा' की व्याख्या 'करुणा-भाव' के रूप मे हो जाना सम्भव है। पुन यह भी आवश्यक है कि यदि प्रमुख विद्वान आपकी प्रश्नावली का उत्तर नही देते और कुछ साधारण लोगो के उत्तर आपको प्राप्त हो जाते हैं, आप उन उत्तरो/व्याख्याओ से कोई निष्कर्ष नही निकाल सकते। यहा उत्तरदाता विद्वत्ता का प्रतिनिधित्व नही करते, इसलिए उनके उत्तरो से

अध्याय 4

शोध की प्रायोगिक विधियां

साहित्यिक शोध, में प्राय बहुत कम अवसर ऐसे आते हैं, जब शोध की प्रायोगिक विधियों का आश्रय लेना पड़ता है। क्योंकि यह वैज्ञानिक विधि है, इसलिए इसका प्रयोग भी तभी सम्भव होता है, जब साहित्य का अध्ययन किसी वैज्ञानिक पहलू से किया जा रहा हो। मनोवैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्रीय पक्षों को लक्ष्य करना हो, अथवा जब किसी अन्य सुगम ढग से लोगों की धारणा या आन्तरिक मान्यताओं का सही पता न लग सकता हो, तभी प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। अधिकांश साहित्यिक शोध, अनुशीलन-अध्ययन आदि में प्रयोग का कोई अवकाश नहीं होता। यही कारण है कि जब साहित्यिक स्तर पर भी हम प्रायोगिक विधियों की चर्चा करते हैं, तो हमें विज्ञान के ही किसी-न-किसी अग का दामन पकड़ना पड़ता है। वैज्ञानिक अध्ययनों में यों तो शोध की आधार सामग्री (Research Data) एकत्रित करने के अनेक ढग हैं किन्तु 'प्रश्नावली' तथा 'साक्षात्कार' ही ऐसी दो विशिष्ट विधियां हैं, जो प्रयोग-स्तर पर साहित्याध्ययन में भी सहयोगी हो सकती हैं।

प्रश्नावली विधि--प्रश्नावली लोगों से अपेक्षित जानकारी प्राप्त करने के लिए निश्चित प्रश्नों का एक समूह होता है, जिनके उत्तर प्रायोगिक दल (Experimental group) ने स्वय अपनी धारणा, मान्यता या सूझ के अनुसार देने होते हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में तो इसका प्रयोग तब किया जाता है, जब किसी निर्णय पर पहुचने के लिए प्रयोगशाला के निष्कर्ष भी असफल हो जाते हैं, जबकि साहित्यिक अध्ययन में दूसरों की सम्मतियों, छन्दों अलकारों के निर्णय, प्रभाववादी समीक्षा-दृष्टि, पाठ-निर्धारण या पाठ-शोध में विशिष्ट शब्दों/वाक्यांशों पर विद्वानों के मत आदि सग्रह करने के लिए यह एक सहायक विधि है। साहित्य में नवीन जीवन-मूल्यों, बदलते हुए मानों, समसामयिक एव विवादास्पद विषयों पर भी कोई निर्णय लेते समय-प्रश्नावली सहयोगी हो सकती है। प्रश्नावली विधि का एक महत्वपूर्ण उपकरण बन सकती है, यदि श्रमपूर्वक एव उपयुक्त शब्दों में प्रश्नों का चुनाव किया गया हो, यदि उसकी उचित विज्ञप्ति हो तथा उपयुक्त विद्वानों के पास ही उसे भेजा जाय, यदि प्रश्नावली के साथ सानुरोध निवेदन-पत्र हो, यदि प्रश्नों को वैज्ञानिक क्रम में वर्गीकृत करके साफ-सुथरा मुद्रित या टकित किया गया हो, यदि प्राप्त उत्तरों को बुद्धिमत्ता पूर्वक साधारणीकृत करके विश्लेषण किया गया हो।

प्रश्नावली प्रस्तुत करते समय प्रायोगिक दल के सम्बन्ध में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए—1 प्रायोगिक दल की प्रतिष्ठा 2 प्रश्नावली प्रस्तुतकर्ता द्वारा स्थिति पर प्रकाश डालना, 3 प्रायोगिकदल को शोध का प्रयोजन बताना 4 प्रश्नावली का संक्षिप्त और स्पष्ट होना, 5 प्रश्नावली के उत्तर देने के लिए पर्याप्त समय निश्चित करना 6 उत्तर न देने वालो को यथा समय स्मरण-पत्र भिजवाना 7. प्रायोगिक दल को उनके व्यक्तिगत उत्तरो को गोपनीय रखने का विश्वास दिलाना तथा 8 अनुकूल वाक्यों से सही प्रार्थना करना।

प्रश्नावली विधि के अनेक लाभ सम्भव हैं। सर्वप्रथम लाभ समय तथा धन की बचत का है। अनुसंधाता इस विधि के माध्यम से देश के दूरवर्ती क्षेत्रो में रहने वाले विद्वानो से व्यक्तिगत रूप मे मिले बिना ही उनकी सम्मति प्राप्त कर सकता है। डाक के द्वारा उनका मत पाच-सात दिन में ही जाना जा सकता है, जबकि यदि शोधार्थी को स्वय उनसे मिलना होता तो कई दिन तक उसे अपने शोध-कार्य से विमुख रहना पडता और यात्रा-व्यय के रूप मे पर्याप्त धन भी लगाना पडता है। पुन प्रश्नावली तैयार करने मे एक ही बार समय लगा देने पर बार-बार अलग व्यक्तियो के पास जाकर माथा-पच्ची करने की आवश्यकता नही रहती। प्रश्नावली तैयार हो जाने पर कोई सहायक भी पत्र व्यवहार का बोझ वहन कर सकता है। इस पद्धति मे प्रायोगिक दल का ध्यान भी मुख्य अपेक्षाओ पर ही केन्द्रित रहता है। उत्तर-दाता इधर-उधर की व्यर्थ चर्चा में न उलझ कर प्रश्न का सीधा स्पष्ट उत्तर देते हैं, जिससे अध्येता को विश्लेषण में अनुकूल सुविधा होती है। प्रश्नावली विधि का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इसमे प्रायोगिक दल को उसी दम बातचीत के लिए बाधित नही किया जाता है। जब भी उत्तरदाता का मूड हो, वह बैठकर प्रश्नावली के उत्तर लिख सकता है। इस दशा मे वह प्रश्नो को सर्वांगीण महत्व देते हुए गम्भीरतापूर्वक कार्य करता है। यदि प्रश्नावली को साक्षात्कार के साथ मिला लिया जाय तो किसी भी प्रकार की जिज्ञासा का सहज शमन वही सम्भव हो सकता है। ऐसा करने से बात अधिक स्पष्ट होकर उजागर हो पाती है।

उक्त विधि मे जहा कुछ लाभ हैं, वही कदाचित् कुछ अभाव भी हैं। यह सही है। कि इसका प्रयोग मासूम बच्चो या अनपढ लोगो पर नही किया जा सकता, परन्तु साहित्यिक क्षेत्र में इसकी कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं रहती। साहित्य दिशा मे इसका मूल अभाव है वह सम्भावना, जिसमे उत्तरदाता द्वारा प्रश्नकर्ता के भाव को गलत समझ लिया जाता है। ऐसे मे 'महादेवी की रहस्यात्मक धारणा' की व्याख्या 'करुणा-भाव' के रूप मे हो जाना सम्भव है। पुन यह भी आवश्यक है कि यदि प्रमुख विद्वान आपकी प्रश्नावली का उत्तर नहीं देते और कुछ साधारण लोगो के उत्तर आपको प्राप्त हो जाते हैं, आप उन उत्तरो/व्याख्याओ से कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। यहा उत्तरदाता विद्वत्ता का प्रतिनिधित्व नही करते, इसलिए उनके उत्तरों से

निकाला गया निष्कर्ष सदैव शकास्पद बना रहता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि कुछ लोग अपने विचारों को लिखकर देने में असमर्थ रहते हैं, या आपकी प्रश्नावली के घेरे में बधकर चलना उन्हें नहीं भाता—ऐसे में यह विधि असफल हो जाती है। इस विधि की एक हानि यह भी है कि यदि उत्तरदाता एक बार उत्तर देकर अपने नवीन सशोधित विचारो के अनुसार उसे बदलना अथवा अधिक व्याख्यायित करना चाहे तो वह नही कर पाता। परिणामत उसके वृद्धिशील ज्ञान का लाभ नही उठाया जा सकता। यो भी कुछ लोग, जब तक पहले से शोधार्थी से परिचित न हो, उसके लिखित प्रश्नो का उत्तर देना उचित नही मानते। ऐसे म प्रश्नावली विधि की अपेक्षा साक्षात्कार विधि अधिक प्रभावी होती है।

उत्तम प्रश्नावली के गुण—प्रश्नावली तैयार करते समय प्रश्नो का कुछ विशिष्ट बिन्दुओ तक ही सीमित रखना चाहिए। दीर्घ क्षेत्र म प्रश्नो का विस्तार उत्तरदाता के लिए झौंझलाहट उत्पन्न करता है। प्रायोगिक दल से जिन उत्तरो की अपेक्षा हो, वे सरल, सीधे और साभिप्राय होने चाहिए। छोटे और मात्र विषयान्वयी उत्तर प्रश्न के स्वरूप पर आधृत होते हैं, इसलिए प्रश्नो की प्रस्तुति म किसी प्रकार का उलझाव जाटल्य या भ्रम नही होना चाहिए। प्रश्न सुझावात्मक अथवा प्रेरणात्मक न हो तो उनके उत्तर निष्पक्ष हो सकते हैं। निष्कर्षों म गाम्भीर्य लाने तथा निर्णयो मे निश्चयात्मकता उपजाने के लिए प्रश्नावली म विषयपरक गहराई और अपेक्षित व्याख्या के सीमित परिमाण का सकेत बना रहना चाहिए। प्रश्न व्यक्तिपरक अथवा उत्तरदाता को परेशान करने वाले नही होने चाहिए, सम्भव हो तो प्रश्नो का आकार छोटा और अपेक्षित उत्तर म व्याख्यात्मक अभाव बना रहना चाहिए। कई बार प्रश्न को पढते ही उत्तरदाता के मन मे सन्देह उपजने लगता है, वह यह मान बैठता है कि शायद उसकी धारणा जानकर उसका मखौल उडाने का प्रयास हो रहा है, ऐसे में सहज ही वह प्रश्नावली पर भडक उठता है। उस स्थिति म उत्तर तो वह नही ही देगा, बल्कि प्रश्नावली का ही विरोध करने लगेगा।

प्रश्नावली यथासम्भव सुबोध और सक्षिप्त होनी चाहिए। प्रश्नो को यदि वर्गीकृत किया जा सके और प्रत्येक वर्ग को क्रमानुसार प्रस्तुत करें, तो प्रश्नावली अधिक प्रभावशाली हो सकती है। देखने में भी यदि प्रश्न आकर्षक हो तो उत्तरदाताओ की प्रतिक्रिया उपयोगी होगी। यथासम्भव प्रश्नावली म स्पष्ट निर्देश भी दिए जाने चाहिए, ताकि उत्तरदाता के लिए प्रश्न का समझना समस्या न बन जाय। प्रश्नावली म यदि किसी साहित्यिक स्थिति पर विद्वानो की सम्मति जानने अथवा किसी साहित्यिक मूल्य की परिभाषा या लक्षण निश्चित करने का प्रयास हो तो इसका स्पष्ट उल्लेख किया जाना चाहिए। ऐसा न करने से कही उद्धृत होने पर, शायद उत्तरदाता मन.वेदना का अनुभव करने लगे और आपके प्रतिक्षुब्ध हो। अभिप्राय यह कि प्रश्नावली प्रस्तुत करते समय शोधार्थी को अत्यधिक सावधान रहना चाहिए और किसी

ऐसे मध्यम मार्ग की खोज करनी चाहिए जिस पर चलते हुए उसके प्रश्नों का उत्तर देने मे किसी प्रायोगिक दल को परेशानी न हो और उसके विषयगत निष्कर्षों पर भी सही प्रकाश पड़े। प्रश्नावली प्रस्तुत करते समय प्रायोगिक दल के लिए विनम्र प्रार्थना भी शोधार्थी को अवश्य करनी चाहिए, अपना मन्तव्य स्पष्ट करना चाहिए तथा उनके सौहार्दपूर्ण सहयोग के लिए पहले से ही आभार प्रदर्शित करना चाहिए।

वर्गीकरण—वैज्ञानिकों ने प्रश्नावली विधि में दो प्रकार की प्रश्नावलियों की कल्पना की है। वर्गीकरण के प्रयास तो अनेक विद्वानों ने किए हैं, किन्तु सबने दो ही प्रकारों का निर्देश दिया है। श्री जॉन बेस्ट ने 'रिसर्च इन एजूकेशन' में प्रश्नावली को नियन्त्रित (Restricted) तथा अनियन्त्रित (Unrestricted) दो प्रकार की स्वीकार किया है। इसमें नियन्त्रित प्रश्नावली के उत्तर अधिकांशतः हाँ या न में होते हैं और अनियन्त्रित प्रश्नावली में उत्तरदाता स्वेच्छा से अपनी बात स्पष्ट कर सकता है। उस पर भाषा-परिमाण का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

कुछ अन्य विद्वानों ने प्रश्नावली के सरचनात्मक (Stuctural) तथा असरचनात्मक (Non-Structural) दो भेद स्वीकार किए हैं। सरचनात्मक प्रश्न संक्षिप्त, निश्चित एवं सूझ-बूझ के अनुकूल होते हैं। इसके विपरीत असरचनात्मक प्रश्न गम्भीर, गहन, जटिल और प्रायः उलझन भरे होते हैं। एक अन्य विद्वान जी ए लुण्डबर्ग ने प्रश्नावलियों का वर्गीकरण करते हुए इन्हें 'तथ्यात्मक प्रश्नावली' तथा 'अभिमत परक प्रश्नावली' नामों से विभाजित किया है। तथ्यात्मक प्रश्नावली के उत्तर लगभग सभी उत्तरदाताओं के लिए एक समान होते हैं। वहाँ शोधार्थी का लक्ष्य तथ्यों की पुष्टि करना रहता है, जबकि दूसरी प्रकार की प्रश्नावली किसी साहित्यिक स्थिति पर विद्वानों का अभिमत जानने के लिए प्रस्तुत की जाती है। सबके अभिमत जुदा-जुदा हो सकते हैं, इनमें से बहुसख्या कौन-सा पक्ष ले रही है, यही जानना अभीष्ट होता है। साहित्यिक प्रश्नावली के लिए अभिमत-परक तथा नियन्त्रित प्रश्नों का सुयोग महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

साहित्यिक प्रश्नावली में प्रश्नों के कुछ नमूने—साहित्यिक शोध में प्रश्नावली का आश्रय केवल तभी लिया जाता है, जब किसी विवादास्पद विषय पर विद्वानों का अभिमत जानना होता है। अतः इसमें प्रश्नों का स्वरूप आग्रह सभार निवेदनात्मक होगा। मान लीजिए कि हमें उपन्यासकार जैनेन्द्र की नायिकाओं के व्यवहार पर कुछ निष्कर्ष निकालने हैं। इस दिशा में हमारे प्रश्न दो प्रकार के हो सकते हैं—

('सुनीता' के संदर्भ में) ? 1. क्या 'सुनीता' की मनःस्थिति में उसे किसी गैर पुरुष के साथ वन में जाना चाहिए था ? 2 क्या हरिप्रसन्न के मन की मलिनता का आभास पाकर सुनीता का निर्वसना होने का व्यवहार उपयुक्त था ? 3 क्या हरिप्रसन्न की घबराहट उसकी दुर्बलता थी या बौद्धिक उत्ताप ? (ये तीनों प्रश्न तथ्यात्मक हैं)

1 आपके विचार मे सुनीता को निर्वसना दिखाना कितना मनोविज्ञानिक औचित्य लिए हुए है ?

2 अपने मित्र की प्रसन्नता के लिए श्रीकान्त द्वारा सुनीता को दिए गए सुझाव कहा तक नैतिक औचित्य की मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं ?

3 क्या हरिप्रसन्न के साथ चलते हुए हुए सुनीता का मन मलिन हो गया था यह केवल उत्सुकता मात्र ही थी (य तीन प्रश्न अभिमत-परक हैं) ऐसे ही अनेक प्रश्न जैनेन्द्र के उपन्यासो की अलग अलग स्थितियो से सम्बन्ध हो सकते हैं।

विद्वान विचारको द्वारा प्रेषित इन प्रश्नो के उत्तरो के माध्यम से हम जैनेन्द्र की नायिकाओ के व्यवहार का औचित्य-अनौचित्य ठहरा सकते है और इस प्रकार जैनेन्द्र के विद्रोही चित्त की उपज का सही विश्लेषण कर सकने म समर्थ हो सकते हैं। पात्राओ के व्यवहार मे असाधारणता का आधार मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं या लेखकीय कल्पना, इसका निर्णय तब दूभर नही रह जायगा।

(ख) साक्षात्कार विधि—शोध विधि के रूप मे साक्षात्कार एक महत्त्वपूर्ण प्रणाली है। इसका आधार यद्यपि प्रश्नावली ही होती है, तथापि इसम प्रायोगिक दल या उत्तरदाता सामने रहता है, इसलिए प्रश्न को भली भाति समझने समझाने एव उत्तर पर सुयोग्य स्पष्टता का आह्वान कर सकने का अवकाश बराबर बना रहता है। वास्तव मे चर्चा कर सकने तथा बात की तह तक पहुच सकने की क्षमता के कारण ही साक्षात्कार विधि प्रश्नावली से अपेक्षा अधिक सबल ठहरती है। साक्षात्कार एक द्विध्रुवी प्रवृत्ति है। प्रश्न-कर्ता तथा उत्तरदाता एक-दूसरे के साथ स्थिति, मनोभावो तथा विषय के महत्व के धरातल पर बध कर बातचीत करते हैं, इसलिए यह विधि शोध समस्या के अध्येता एव अध्ययनाधार के बीच निकटतम नाता बनाती है। इसके द्वारा उपलब्ध सामग्री मे विषयीगत तत्त्व तो अवश्य होता है, परन्तु यहाँ प्राय विषयी विषय-सम्बन्धी प्रतिष्ठित विद्वान होता है। उसके द्वारा प्रस्तुत तथ्याख्यान अपने-आप म सजीव शोध का धरातल उपजाता है।

साक्षात्कार विधि अपनाने वाला शोधार्थी प्रबुद्ध, प्रत्युत्पन्नमति और स्वय विषय का ज्ञाता होता है। वह साक्षात्कार द्वारा निश्चय ही प्रश्नो को फेर-बदल कर उत्तरदाता से श्रेष्ठतर सामग्री प्राप्त कर लेता है। प्रश्नावली में क्योंकि उत्तरदाता सम्मुख नहीं होता, इसलिए लिखित प्रश्न की अस्पष्टता अथवा उत्तर की जटिलता का अवकाश सदैव बना रह सकता है। साक्षात्कार मे ऐसे अभावात्मक प्रतिबन्ध नही होते। प्रश्नावली मे जो सामग्री ऊपरी स्तर का उत्थापन लिए हुए मिलती है, साक्षात्कार मे उसी के लिए गहन परतो को उघाडा जा सकता है। स्मरण-पत्रो, पुन पुन पत्र लिखने की आवश्यकता इसमें नही रहती—जहा, जैसी स्थिति बनी, वहीं प्रश्न का रूप बदलकर बातचीत को न केवल रोचक ही बनाया जा सकता है,

बल्कि उत्तरदाता को अपना श्रेष्ठतर ज्ञान अभिव्यजित करने के लिए प्रेरित भी किया जा सकता है। इस दिशा मे कभी-कभी साक्षात्कृत व्यक्ति अपनी गोपनीय बातें भी बता देने को बाधित हो जाता है। ऐसे मे जहाँ साक्षात्कार करने वाले शोधार्थी को उसे गोपनीयता बनी रहने का विश्वास दिला देना चाहिए, वहा तथ्यो का अधिकार उल्लेख करते हुए भी उसे तथ्य का उद्घाटन करने वाले का नामोल्लेख नही करना चाहिए। साक्षात्कार करने वाले शोधार्थी की सफलता इस बात मे है कि वह अपने उत्तरदाता को प्रसन्न रख सके, उसके स्नेह का भाजन बनकर उसके द्वारा अपनी समस्या को समझाने में सहयोग प्राप्त करे और नवीन तथ्यो अथवा पुरातन तथ्यो के नवाख्यान के सकेत पाकर गम्भीर विश्लेषण द्वारा स्वय दिशा निर्धारित करे। साक्षात्कार विधि द्वारा छोटो एव अनपढ लोगो से भी बातचीत हो सकती है। विशेषकर अछूते हस्तलिखित साहित्य की खोज में अनपढ गवार ग्रामीण लोग अधिक सहायक हुआ करते हैं। लोक-साहित्य का सग्रह भी उनकी सहायता के बिना सम्भव नही होता। इसलिए यदि साक्षात्कार करने वाला शोधार्थी विनम्र प्रेमल और शालीन होगा, तो वह प्राय बडी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त कर सकने से सक्षम हो सकता है।

साक्षात्कार के प्रकार—शिक्षा-क्षेत्र के विद्वानों ने साक्षात्कार की प्रणाली को नित्य-प्रति व्यापक रूप देते हुए साक्षात्कार के अनेक प्रकारो का अध्ययन किया है। यह आवश्यक नही कि वे सब प्रकार साहित्यिक शोध मे भी पूर्ण सहायक हो सकें, तथापि निजी क्षेत्र मे उनका महत्व अक्षुण्ण है। हम यहाँ केवल उन्ही प्रकारो की चर्चा करेंगे, जो भाषाई साहित्यिक शोध मे सहायक होते हैं।

निदानात्मक साक्षात्कार—यह विधि केवल उन कवियो/साहित्यकारो के सम्बन्ध मे अपनाई जा सकती है, जिनकी रचना की पृष्ठभूमि पर आप उनकी किसी विशिष्ट मानसिकता एव परिस्थितिजन्य प्रतिक्रिया का अध्ययन करना चाहते हैं। इसके द्वारा आप लेखक के व्यक्तिगत जीवन, सघर्ष, उतार-चढाव, सवदनाओ, सवेगो तथा मनोविकारो के गम्भीर आधार खोज सकते हैं। उस धरातल का स्पर्श कर सकते हैं, जो लेखक की सरचनात्मक सवेदनाओ को पैदा करता है।

अनुसधानात्मक साक्षात्कार—जब कभी शोधार्थी साहित्याध्ययन के उपरात कुछ सभावित निष्कर्ष निकाल लेता है, और अपने निष्कर्षों को विद्वानो के चिन्तन-मानदण्ड पर परखना चहता है, तब उसे अनुसन्धात्मक साक्षात्कार की ओर बढ़ना पडता है। इसके लिए शोधार्थी अपने सम्भावित निष्कर्षों को सम्मुख रखकर प्रश्नो को विचारता और उन्ही के आधार पर विषय के प्रतिष्ठित विद्वानो से बातचीत करता है। इस प्रकार की चर्चा के अन्तर्गत उसे उपयुक्त सूत्र प्राप्त होते हैं, जिनके अनुकूल वह अपने सम्भावित निष्कर्षों को ढाल देता है।

अनिर्दिष्ट साक्षात्कार—साहित्यानुसन्धान की विधि रूप मे साक्षात्कार के दौरान प्रश्नो को निर्दिष्ट नही किया जा सकता, न ही उन्हे किसी घेरे में बाँधकर

प्रस्तुत किया जा सकता है। साहित्य क्षेत्र में साक्षात्कार का स्वरूप सदैव अनिर्दिष्ट रहता है। उत्तरदाता आपके प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपनी धारणानुसार न केवल प्रश्नों को ही अनेक खण्डों में विभाजित करके चल सकता है बल्कि स्वेच्छा पूर्वक उत्तर को लम्बा-चौड़ा, विषय-परक या विषयीपरक बना सकता है।

गम्भीर साक्षात्कार शोधपरक तथा गम्भीर साक्षात्कार साहित्य की काव्यशास्त्रीय अथवा समकालीन जटिलताओं को सुलझाने के लिए अपनाया जाता है। इस प्रकार का साक्षात्कार केवल एक ही प्रतिष्ठित व्यक्ति के सम्मुख भी हो सकता है, एक से अधिक विद्वान भी एक ही समय इसमें भाग ले सकते हैं। वे लोग अपने-अपने मतानुसार समस्या पर विचार प्रस्तुत करते हैं और पारस्परिक विचार-विमर्श के लम्बे तान-बान में ऐसे गम्भीर सूत्र उद्घाटित करते हैं कि अन्तत: वे साहित्यिक उपलब्धि बन जाते हैं। प्राय: संगोष्ठियों, परिचर्चाओं एवं सामूहिक साक्षात्कारों में उच्च कोटि की साहित्यिक गम्भीरता सदैव विद्यमान होती है।

अनुसंधानात्मक साक्षात्कार का ढंग—क्योंकि साहित्य क्षेत्र में इस प्रकार के साक्षात्कार का विशेष स्थान है, इसलिए इसके निर्वाह की विभिन्न दशाओं को भी स्पष्ट कर देना उचित ही होगा। इसके लिए सर्वप्रथम आपको उन विद्वानों की सूची तैयार कर लेनी चाहिए, जिनसे आप साक्षात्कार करना चाहते हैं। ऐसा करते समय उन विद्वानों के व्यक्तित्व, प्रकृति और योग्यता का ध्यान रखा जाना चाहिए तथा साक्षात्कार के लिए उनसे पहले ही समय निश्चित कर लिया जाना चाहिए, ताकि उस समय प्रत्यर्थी (Respondent) मानसिक तथा बौद्धिक रूप से आपके प्रश्नों का उत्तर देने के लिए तैयार रह सके। साक्षात्कार करने वाले शोधार्थी को विद्वान प्रत्यर्थी से मिलने से पूर्व प्रश्नों की क्रमिक सूची तैयार कर लेनी चाहिए और प्रत्यर्थी की व्याख्या को सटिप्पण लिखने अथवा रिकार्ड करने का समुचित प्रबन्ध करना चाहिए। प्राय: बात-चीत की गति लेखन-गति से अधिक होती है, इसलिए रिकार्डिंग बहुत उपयुक्त माध्यम है। शीघ्र लिपि का प्रबन्ध भी सहायक हो सकता है। प्रत्यर्थी विद्वान अपने विषय का प्रकाण्ड पंडित होता है इसलिए उसके सम्मुख अपनी शोध-समस्या रखने से पूर्व आपको स्वयं अपने लक्ष्य के प्रति अत्यधिक स्पष्ट होना अपेक्षित है। प्रश्न ऐसे होने चाहिए जिनसे किसी प्रकार की खीझ उपजने की सम्भावना न हो। प्रश्नकर्त्ता विनम्र तथा सादरभाव से ही प्रश्नों को प्रस्तुत करे—कहीं भी प्रश्न के उलझने पर 'आप समझे नहीं' ऐसे शब्द प्रत्यर्थी के प्रति प्रयुक्त नहीं होने चाहिए। इसकी अपेक्षा विनम्रता बनाए रखते हुए शोधार्थी 'क्षमा कीजिएगा, शायद मैं ठीक समझा नहीं पाया' आदि शब्दों का प्रयोग कर सकता है।

प्रत्यर्थी के निकट पहुंचते ही उस पर प्रश्नों की झड़ी नहीं लगानी होती। उसके साथ सामान्य बातचीत कीजिए, मैत्रीपूर्ण वातावरण बनाएं और उसे यह

महसूस न होने दें कि जैसे वह किसी परीक्षा मे बैठने जा रहा हो। ऐसा करने मे तनाव घटेगा, वातावरण सौहार्दपूर्ण होगा और फिर जो उत्तर प्राप्त होंगे उनमे भी एक शान्त, विश्वस्त प्रातिमा सूचना निहित होगी। जब प्रत्यर्थी किसी प्रश्न पर अपना मत प्रकट करने लगे, तो उस बीच मे टोकना अशिष्टता होगी। उसकी समूची बात को ध्यानपूर्वक सुनें, समझें तथा फिर भी यदि कुछ आशका या जिज्ञासा हो, तो पुन प्रश्न करें। बीच मे टोकने से चिन्तन धारा के भग होने की सम्भावना रहती है। साक्षात्कार करते समय प्रश्नो एव बातचीत की दिशा निश्चित तौर पर अपेक्षित साहित्यिक समाधान की ओर ही बनी रहनी चाहिए दिशा-भग होने से इधर-उधर की ऊल-जलूल बातें शुरू हो सकती हैं, जिनमे समय का अपव्यय होगा और आप अपने लक्ष्य से छिटक जायगे। सम्भव हो तो आप प्रत्यर्थी के उत्तरो की सराहना करते रह सकते है, अपना समर्थन भी व्यक्त कर सकते हैं किन्तु प्रश्नो को धीरे धीरे और अपेक्षित स्थलो पर जोर देते हुए ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए। प्रत्यर्थी के उत्तरो को जैसाकि हमने ऊपर कहा है, शीघ्र लिपि के द्वारा लिखना, अथवा टेप रिकार्डिंग कर लेना उपयुक्त होता है। यदि किसी कारणवश ये विधियाँ सम्भव न हो, तो शोधार्थी सक्षिप्त टीप ले सकता है, यदि उसमे दिक्कत हो तो वह प्रत्यर्थी विद्वान म रुकने की प्रार्थना कर सकता है। ताकि सुविधापूर्वक उसका मत अकित किया जा सके। शोधार्थी पहले से ही सभावित उत्तरो के प्रतीक-चिह्न तैयार करके साथ ले जा सकता है। प्रत्यर्थी का उत्तर श्रवण करने के उपरान्त वह निकटतर प्रतीक चिह्न को रेखाकित करके अगले प्रश्न की ओर बढ सकता है।

साहित्यिक शोध मे साक्षात्कार का स्वरूप—साहित्य-क्षेत्र के शोधार्थी को निर्णया-पेक्षी समस्याओ को सुलझाने के लिए साक्षात्कार का आश्रय लेना पड सकता है। यह निर्णय काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तो का हो सकता है, कृतियो एव कृतिकारो के युग अथवा भाषा का हो सकता है, या लेखको को 'वाद' के घेरे म बाधने से सम्बन्धित हो सकता है। ऐसी स्थिति मे साहित्य के पक्ष विशेष के मुख्य विद्वानो से साक्षात्कार का प्रश्न उठ सकता है। शोधार्थी को समस्या से सम्बन्धित कुछ मूल प्रश्नो की सूची तैयार कर लेना चाहिए—यथा (हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्या के सदर्भ मे)—1. ग्रियर्सन और रामचन्द्र शुक्ल तक जिस ज्ञात हिन्दी साहित्य को इतिहास का रूप दिया गया था, क्या ज्ञात-पक्ष आज भी उतना ही है? 2 नवीन शोध के फलस्वरूप अनेक कवियो, कृतियो, प्रवृत्तियो एव सहयोगी विशेषताओ का जो परिचय मिला है, क्या अब उसे साहित्येतिहास मे स्थान नही दिया जाना चाहिए। 3 उत्तरोत्तर लिखा जाना वाला नया साहित्य कितने कालोपरान्त इतिहासाश बना लिया जाना चाहिए? 4 विभिन्न प्रदेशो की प्रान्तीय सीमाओ मे प्राय वही की प्रादेशिक लिपियो मे समृद्ध हिन्दी साहित्य उपलब्ध हो रहा है, क्या अभी तक साहि-त्येतिहास से उसे स्थान नहीं मिल रहा? 5 प्रादेशिक हिन्दी साहित्य, हमारे मन मे पूर्व ज्ञात साहित्य से भी अधिक है, उसके योग से हिन्दी साहित्येतिहास का रूप पूर्णत

बदल जाने की आशा है, आपका विचार ? 6 इस दशा में क्या नवीन साहित्येतिहास किसी एक स्थान अथवा प्रदेश का कोई एक अथवा एकाधिक व्यक्ति लिख सकेंगे ? 7. क्या ऐसे इतिहास के सम्पादन के लिए किसी बड़ी संस्था का सामूहिक प्रयास अपेक्षित न होगा ? 8 नवज्ञात सामग्री के परिप्रेक्ष्य में नया साहित्येतिहास लिखने के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?

इस प्रकार के प्रश्नों को सम्मुख रखकर आप किसी भी साहित्येतिहास के विद्वान से न केवल उसका मत जान सकते हैं, बल्कि नवीन इतिहास लिखने की दिशा में उसके अनुभवों से लाभ भी उठा सकते हैं। शोधार्थी को चाहिए कि प्रत्येक प्रश्नोपरान्त वह प्रत्यर्थी के उत्तर का संक्षिप्त टीप ले और यथावश्यक उसे उद्धृत कर सके। यदि समग्र चर्चा टेप की जा सके तो बाद में भी उसे दो-एक बार ध्यान-पूर्वक सुनकर नोट्स तैयार किए जा सकते हैं। यही पद्धति अन्य साहित्यिक समस्याओं के लिए भी अपनाई जा सकती है। आजकल विविध प्रकार के बोधों के संकल्प उजागर हो रहे हैं—इनके सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिए साक्षात्कार पद्धति बड़ी महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

साक्षात्कार के लाभ—विधि रूप में साक्षात्कार को स्वीकारने वाले शोधार्थी को इससे एक बड़ा लाभ यह होता है कि वह प्रत्यर्थी विद्वानों से मित्रता स्थापित कर सकता है। साक्षात्कार के अवसर पर यदि कुछ मैत्री-पूर्ण वातावरण बनाने में समर्थ हो सके, तो यह मित्रता उसे जीवन के अनेक क्षेत्रों में सहयोगी सिद्ध होती है।

प्रश्नावली विधि में प्राय जिन गलतफहमियों की आशंका हो सकती है, साक्षात्कार में उनका निराकरण तुरत सम्भव है। प्रश्न के उत्तर में प्रत्यर्थी ने जो भी कहा, यदि वह साक्षात्कार करने वाले को पहली ही बार समझ नहीं आता, तो वह पुन प्रश्न कर सकता है, अपनी जिज्ञासा को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत कर सकता है या व्याख्या में से उठने वाले नवीन प्रश्नों की चर्चा कर सकता है। ऐसा सब कर सकने की सम्भावना में साक्षात्कार विधि प्रश्नावली से बढ़कर महत्वपूर्ण सिद्ध होती है।

प्राय देखा गया है कि यदि 100 प्रत्यर्थियों को प्रश्नावली प्रेषित की जाय, तो कठिनाई से उनमें 45–50 तक विद्वान उत्तर भेजने का कष्ट करते हैं, और वह भी एक-दो स्मरण पत्र भेजने के बाद। किन्तु साक्षात्कार में उत्तर-प्राप्ति का अनुपात 75–80 प्रतिशत हो सकता है। जिस किसी भी विद्वान के पास शोधार्थी व्यक्तिगत रूप से पहुंचता है, मात्र शिष्टता-वश ही सही उसे उसका स्वागत करना एवं उसकी पूछताछ का उत्तर देना पड़ जाता है। तात्पर्य यह कि साक्षात्कार विधि में प्रत्यर्थियों की ओर से टाल मटोल का अवकाश कम हो जाता है।

साक्षात्कार के दौरान कुछ ऐसे सूत्र भी हाथ लग सकते हैं, जो प्रत्यर्थी विद्वान के व्यक्तित्व और रचना, व्यक्तिगत धारणाओं एवं मनोवृत्तियों को समझ लेने में

सार्थक होते हैं। ये सूत्र प्रायः गोपनीय जीवन-रहस्य भी हो सकते हैं और विशिष्ट जीवन-शैली के परिचायक भी। ऐसी स्थिति में शोध-समस्या में इतर महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त कर लेने के कारण साक्षात्कार का लाभ द्विगुणित हो जाता है।

उक्त विधि का एक और महत्वपूर्ण लाभ दीख पड़ता है, जो डाक द्वारा भेजी प्रश्नावली में कदाचित् सम्भव नहीं। प्रश्नावली के उत्तर प्रायः प्रत्यर्थी द्वारा हस्त-लिखित ही भेजे जाते हैं। कल्पना कीजिए कि यदि प्रत्यर्थी का हस्तलेख आपसे न पढ़ा जा सके, तो उस अपठनीय हस्तलेख में प्रस्तुत उत्तर शोधार्थी के किस काम आएगा! तात्पर्य यह कि अपाठ्य हस्तलेख की समस्या प्रश्नावली में सम्भव है, साक्षात्कार में ऐसी कोई बाधा नहीं। साक्षात्कार करने वाला स्वयं अपनी भाषा, लिपि एवं हस्तलेख में प्रत्यर्थी के उत्तरों को दर्ज कर सकता है, उसे टेप में या शीघ्र लिपि में लिखवा सकता है। ऐसा करने से 'लिखे मूसा, पढ़े खुदा' वाली कठिनाई का निरन्तर निराकरण होता रहता है।

अध्याय 5

शोध के विविध आयाम/पक्ष

हिन्दी म साहित्यक शोध आज बहुमुखी एव बहु-आयामी हो गया है। जहा एक ओर इसका घेरा आधुनिक विज्ञानो, शास्त्रो तथा कलाओ का स्पर्श कर रहा है, वहा दूसरी ओर निरन्तर इसका विस्तार हो रहा है। व्याकरण, भाषा-विज्ञान, भाषाओ-बोलियो के परिप्रेक्ष्य तथा लोक साहित्य के अनेक दायरे हिन्दी म साहित्यक शोध व आयाम निश्चित कर रहे हैं। शोधार्थियो को उक्त पक्षो एव आयामो स सही तौर पर परिचय करवाने के लिए हम यहाँ दोना दिशाओं का सकत प्रस्तुत कर रहे हैं—

(1) *विविध पक्ष*—आज यह आवश्यक नही रहा कि आप हिन्दी साहित्य का अध्ययन करते हुए साहित्य के घेरे मे ही उलझ कर रह जायें। पूर्वयुग म शोधार्थी मे साहित्य के अन्तर्गत अनुसधान के लिए अनुशीलन, परीक्षण, मूल्याकन अथवा नव-सकलनो पर आश्रित रहना होता था। बौद्धिक युग की प्रगति के साथ साथ साहित्यक शोध के अनेक पक्ष सामने आए है। वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्य के मनोवैज्ञानिक, शैली वैज्ञानिक, राजनैतिक या औद्योगिक पक्षो का अध्ययन हो रहा है। शास्त्र-सम्बन्धी क्षेत्रो का तो कोई अन्त ही नही। दार्शनिक, आध्यात्मिक, नैतिक, समाजशास्त्रीय, सास्कृतिक, ऐतिहासिक, नृशास्त्री, पुरातत्व सम्बन्धी पौराणिक आदि अनेक पक्ष साहित्यिक शोध मे उजागर हो रहे हैं। विभिन्न शास्त्रो का क्षेत्र अलग-अलग चेतनाओ और भावनाओ से प्रेरित हो रहा है। केवल समाजशास्त्र को ही लेकर साहित्य की विभिन्न विधाओ मे पारिवारिक, मध्यवर्गीय, उच्चवर्गीय, सम्बन्धो के विघटन सम्बन्धी, नारी-सम्बन्धी, रीति रिवाजो, पर्वोत्सवो, जीवन-द्वन्द्वो, युवा आक्रोश, यौन-विकारो और न जाने किन किन पक्षो पर शोध-कार्य हो रहा है अभी और हो भी सकता है। सास्कृतिक शोध के नाम से आप किसी भी मानवीय मूल्य को अध्ययनार्थ उठा सकते हैं। साहित्य मे बदलते हुए नैतिक मूल्यो माना का परीक्षण कर सकते हैं, दार्शनिक तत्वो को उघाड सकते हैं, एक एक तत्त्व का सकल्प निश्चित कर सकते हैं, दार्शनिक सिद्धान्तों मे साहित्यक रचनाओ को जड सकते हैं। भक्तिकालीन अथवा उससे इतर काव्य म रहस्यवादी प्रवृत्तिया खोज सकते हैं, आध्यात्मिक मूल्यों का अनुशीलन कर सकते हैं तथा आत्मा-परमात्मा सम्बन्धो को लेकर प्रतीकात्मक प्रासाद खडा कर सकते हैं। चेतना के स्तर पर आज आँचलिक चेतना तथा सत्रास, मृत्यु, युग आधुनिकता,

जीवन मूल्य (बदलते हुए), संशय, व्यग्य, बिखराव, अपमान आदि की बोधात्मक चेतनाओं का अलग अध्ययन सम्भव हो रहा है। यह सही है कि वर्तमान अध्ययन को किसी एक धारा म बाधा नही जा सकता, प्राय विषय-पक्ष एकाधिक धाराओं को छू लेते हैं, फिर भी चेतना को लेकर छोटी स छोटी सवेदना के घेरे म बाल की खाल उतारी जा रही है। यही स्थिति भावना-स्तर की भी है। किसी एक स्थिति का दूसरी पर प्रभाव तो होता ही है, किन्तु स्पष्ट एकार्थी भावनात्मक अध्ययन भी आज एक अलग शोध-पक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—साहित्य की किसी भी विधा म शृगार, वीर, करुण, वात्सल्य, हास्य, व्यग्य आदि भावनाओं का अनुशीलन सम्भव है। अनूदित, तुलनात्मक या प्रवृत्तिजन्य साहित्य का मूल्याकन किया जा सकता है। महानगरीयता, वैयक्तिकता, एकान्तिकता आदि भावनाएँ भी ऐसी ही स्थितियां ह।

जो शोधार्थी विभिन्न कलाओं के मानदण्ड पर साहित्य को परखना चाहे, उनके लिए भी अब कोई बाधा नहीं रह गई। काव्य और सगीत का तो सदैव चोली-दामन का साथ रहा है, चित्रकारा ने काव्यभिव्यजनाओं को रगों और अशो के माध्यम से भी पेश किया ही है। भाषात्मक प्रयोग भी एक कला है, मुहावरेदानी, प्रवाहात्मक, दशात्मकता सभी तो कवि की कला के अग हैं। कथा साहित्य मे पत्र और डायरी, नाटक मे रग सकेत और मचन विधि आदि तत्व कला ही तो हैं। जब शोधार्थी साहित्यिक घेरे मे उपलब्ध कलात्मक उपलब्धियों का अध्ययन करता है अथवा साहित्य (कला) का अन्य ललित कलाओं के परिप्रेक्ष्य म मूल्याकन करता है, तब भी शोध का कलागत पक्ष ही उजागर होता है।

उपर्युक्त सभी पक्ष एव अन्य अनेक दिशाएँ आज हिन्दी साहित्य के बहुपक्षी शोध का परिचय दे रही हैं। सच तो यह है कि हिन्दी साहित्य स्वय इतना बहु-पक्षी हो चुका है कि मानवीय ज्ञान का शायद ही कोई पक्ष एसा हो, जिसे हिन्दी के सर्जको ने न छुआ हो। यही कारण है कि उसके आकलन, अनुशीलन, मूल्याकन करने मे उन सभी पक्षा का स्पर्शन, अध्ययन सम्भव है, जो किसी प्रकार जीवन मूल्यो को निर्धारित करने म सक्षम हैं।

(1) आयाम—आयामो का सम्बन्ध परिमाण एव स्थापना से है। हिन्दी साहित्य, जो आज बहुपक्षीय हो गया है सहज ही नए आयामो की स्थापना कर रहा है। अध्ययन की पुरानी धारणाएँ, सृजन की पूर्व दिशाएँ एव अतीत की परिस्थितियां के साथ आज पूर्णत बदल चुके हैं। *हिन्दी का वर्तमान साहित्य* पुरातनता की लगभग अवहेलना करता हुआ जटिल जीवन के विविध विषयो को अगीकार कर रहा है। आज के साहित्यकार का निजी अनुभव है कि मानव-जीवन के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु का मूल्य बढ रहा है। जिंदगी की प्रफुल्लता ढूढने से भी नही मिल रही, चतुर्दिक् एक सडाव, विभीषिका सत्रास, घुटन और अकेलापन महसूसा जा रहा है—ऐसी परिस्थितियो म जीने वाला साहित्यकार भला अपनी

चेतना के यथार्थ को अभिव्यक्ति से क्यों कर अलग रख सकता है ? उसे अपने आप से ही नहीं, समष्टि से भी न्याय करना है। ऐसे में वह अपना दामन बेदाग कैसे रखेगा ? आज साहित्य में बदलते हुए जीवन-मूल्यों व नैतिक मानो, अस्तित्व की खोज में भटकते मानवो, दुविधा और द्वन्द्व में अन्त संघर्ष करते हुए व्यक्तियों, लोगों की भीड़ में अकेलेपन के बोझ में आतंकित जिन्दगियों और टूटते सम्बन्धों के पारावार में बेपतवार नौका की नाईं डगमगाती उमगों के सजग चित्र सृजन के नवीन आयाम ही तो हैं। सहज ही इसी परिप्रेक्ष्य में जब अनुसंधान पनपेगा, वहाँ भी नए आयाम जुड़ेंगे।

उपर्युक्त सभी तत्त्वों को सम्मुख रहते हुए हिन्दी साहित्य की समस्त विधाओं में शोध के नवीन आयाम स्थापित हो रह हैं। आधुनिक कविता के क्षेत्र में बीसियों वादों का आश्रय लेकर उसको विभाजित किया गया है और उन्हीं घेरों में रखते हुए अध्ययन के उपक्रम हुए हैं। भारतेन्दु युगीन कविता में भक्ति, राष्ट्रीयता, विद्रोह के स्वर, नव-जागरण की धारणा, रूमानियत, प्रकृति-चित्रण हिन्दुत्व का दृष्टिकोण, सांस्कृतिक उपागम, प्रेम-चित्रण, नवीन बोध, व्याकरणिक प्रयोग, मुहावरे-लोकोक्तियाँ, भाषा-वैज्ञानिक अनुशीलन, शैली वैज्ञानिक, सौंदर्य शास्त्रीय, समाज शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन, पौराणिक पृष्ठभूमि, ऐतिहासिक चित्रण, अलंकार-रसादि के प्रयोग अथवा कलापक्ष का अध्ययन आदि असंख्य विषय साहित्यिक शोध के आयाम बन रहे हैं। यही स्थिति भारतेन्दु-कालीन नाटक, निबन्ध अथवा कथा-साहित्य की भी हो सकती है। द्विवेदी युगीन परिस्थितियाँ स्वयं नवीन अनुसंधान का धरातल हैं। राष्ट्रीयता के स्वर, पौराणिक किन्तु उपेक्षित पात्रों का उद्धार, प्रतीन वर्णन में वर्तमान उद्भावनाएँ, जीवन के आदर्श मूल्य, प्रबन्धात्मक शैली, ऐतिहासिक-पौराणिक पात्रायोजन, बहिर्मुखी सक्रियता एवं अन्तर्मुखी चेतना आदि काव्य-पक्ष द्विवेदी युगीन शोध के आयाम हैं। फिर तो वादों का एक रेला आता है, रूमानियता की एक अन्तहीन व्यवस्था जगती है और एक ओर प्रम-सौन्दर्य तो दूसरी ओर निर्धनता-वर्ग-संघर्ष चित्रित होने लगता है। इन तथ्यों का शोधात्मक अध्ययन पुन नवीन आयाम स्थापित करता है। नए नारे, आन्दोलन, दावे और लेबल सम-कालीन कविता के शोध-विषयों में प्रयोगवाद और नयी कविता, नवगीत, व्यक्ति चेतना, का गीति-मुक्तक, समसामयिक सृष्टि और दृष्टि, लम्बी कविताओं का धरातल, नाट्य-काव्य का उभरता आयाम आदि को तो प्रस्तुत करते ही हैं, साथ ही मोह-भंग अस्वीकृति, असन्तोष, अनास्था, विद्रोह, भूख, विकृति, अव्यवस्था, अस्तित्व की तलाश आदि तथ्यों पर हिन्दी शोध के लिए नवीन आयाम निर्मित करते है। समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य, हिन्दी नाटक एवं वैचारिक साहित्य में भी उक्त स्वर तीखे होते जा रहे हैं उनमें की विसंगति स्वयं शोध का एक अनूठा आयाम बन कर प्रकट हो रहा है।

हिन्दी साहित्य मे शोध के आयामो मे भाषा-बोली सम्बन्धी अध्ययनो, व्याकरण, मरचना, भाषा विज्ञान, शैली विज्ञान, सौन्दर्य शास्त्र, रस अलकार आदि से सम्बन्धित कलापक्षीय अनुशीलन भी अपनाए जा रहे हैं। कुछ शोधार्थी जो अपनी प्रादेशिक भाषाओ के साहित्यो से भी पर्याप्त जानकारी रखते हैं, वे उन भाषाओ की विशिष्ट साहित्यिक प्रवृत्तियो को हिन्दी की समान प्रवृत्ति से तुलना करने का प्रयास भी कर रहे हैं। इस दिशा म शोध के अनेक आयाम स्थापित किए जा चुके हैं। अज्ञात रचनाओ की खोज तथा उनका पाठालोचन शोध का विशिष्ट आयाम कहे जा सकते हैं। सूरति मिश्र तथा हरिचरणदास की कृतियो का उद्‌घाटन हिन्दी शोध के स्थापित आयाम हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि शोध के आयामो मे आन्तर-अनुशासनिक-उपागम (Inter disciplinary approach) आज विशेष स्थान रखता है। साहित्या-ध्ययन मे मानव ज्ञान के अन्य अनुशासनो की क्या भूमिका हो सकती है, इस तथ्य को भली भांति जान लेना और सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तर पर उन अनुशासनो के साथ साथ हिन्दी साहित्य का अध्ययन करना भी साहित्यालोचना के क्षेत्र मे नवीन आयामो की स्थापना करने के बराबर है। साहित्य और सगीत, साहित्य और दर्शन, साहित्य और मनोविज्ञान, साहित्य और नृशास्त्र, साहित्य और समाज शास्त्र, साहित्य और सौंदर्य शास्त्र, साहित्य और सस्कृति, साहित्य और इतिहास-पुराण, साहित्य और राजनीति आदि आन्तर-अनुशासनिक अध्ययन हो रहे हैं, और भी हो सकते हैं, अत इनके माध्यम से साहित्यिक शोध के नवीन आयाम प्रकाश मे आ रहे हैं।

(iii) हिन्दी साहित्यिक शोध-कार्य की उपलब्धि—हिन्दी में स्वातन्त्र्य-प्राप्ति से पूर्व उपाधिपरक शोधन के बराबर ही हो पाई थी। भारतीय विश्वविद्यालयो मे हिन्दी शोध-ग्रन्थो पर पी-एच डी के उपाधि प्रदान करने की तिथिया जरूर सन् 1930 के आस-पास देखी जा सकती हैं, तथापि इस दिशा को तीव्रता और गति सन् 1947 के उपरात ही मिल पाई। गत एक हजार वर्षों से भी दीर्घतर काल के हिन्दी साहित्य पर शोधात्मक अध्ययन कुल तीस ही वर्षों म सम्पूर्ण नही हो सकता, यही कारण है कि भारत के सौ के लगभग विश्वविद्यालय आज हिन्दी की साहित्यिक शोध पर उपाधि प्रदान करने का लोभ दे रहे हैं, शोधार्थियो की भरमार आ रही है, साहित्य के अ ग प्रत्यग पर शोध ग्रन्थ तैयार करने के प्रभावी प्रयास हो रहे है, फिर भी अभी हिन्दी शोध नित्य नवीन और ताजगी समर है। अ ग्रेजीदान जब हिन्दी शोध की प्रगति से चिढ कर यह लाछन लगाया करते हैं कि हिन्दी मे उच्च स्तर की शोध नही हो रही, बहुत अधिक सख्या मे शोधार्थी कार्य करते हैं और सैकडो शोध-उपाधिया प्रति वर्ष प्रदान की जाती हैं, जिससे हिन्दी की शोध का मूल्य घट रहा है, तब वे भूल जाया करते हैं कि उन्नीसवी शती के अन्त तक इग्लैंड मे अ ग्रेजी शोध का भी यही हाल था। शोध के नए विषय न मिल सकने के कारण

वहाँ 'किसी कवि द्वारा अमुक शब्द के विभिन्न प्रयोग' जैसे सामान्यतर विषयों पर भी शोध-कार्य हुए। हिन्दी का क्षेत्र तो अभी तीस वर्ष पूर्व तक लगभग अछूता ही था। इसलिए इसमें इतने व्यापक स्तर पर शोध का अवकाश होना सहज ही मान्य होना चाहिए। अपनी भाषा होने से अंग्रेजी पर हिन्दी को अनेक सुविधाएं प्राप्त है, इसलिए भारतीय विद्वानों द्वारा हिन्दी साहित्य को अपना शोध-क्षेत्र चयित करना अधिक सुविधाजनक है। शोध-कार्य निम्न स्तर का भी नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी के शोध-ग्रन्थों एवं पाश्चात्य विश्वविद्यालयों से अंग्रेजी माध्यम से शोध करके उपाधि प्राप्त करने वाले की अपेक्षा हिन्दी का शोधार्थी अधिक परिश्रम करता है, अधिक स्रोत-ग्रन्थों को देखता परखता है और मौलिक स्थापनाओं को प्रगति करता है। यही हिन्दी शोध की मुख्य उपलब्धि है।

हिन्दी शोध-कार्य की उपलब्धियाँ अनेक हैं। गत तीस वर्षों में अनेक नवीन कवि, बड़ी मात्रा में समृद्ध हिन्दी साहित्य, अज्ञात रचनाएँ, देश की विभिन्न प्रादेशिक लिपियों में लिखा गया हिन्दी काव्य, आज प्रकाश में आ चुके हैं। तीस ही वर्षों में ये नवीन खोजें इतने बड़े परिणाम में सामने आई हैं कि विद्वानों को आज पुनः हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्या पर विचार करना पड़ रहा है। शोध में वैज्ञानिकता की मांग ने अध्ययन की नवीन दिशाओं का उद्घाटन किया है। भक्तिकालीन साधक कवियों की रचनाओं के आधार-दर्शन आज प्रकट हैं, उनके परिस्थितिजन्य कारण, विशिष्ट प्रवृत्तियों का भी अध्ययन हो चुका है। भक्तिकालीन माधुर्य भक्ति ही रीतिकालीन शृंगार चित्रण की पृष्ठभूमि है, उच्छृंखल धर्म-सम्प्रदाय भी उसमें सहयोगी हैं, विपरीत लिंगी रति विशिष्ट विलासी मानसिकता की देन है आदि तत्त्व आज हिन्दी शोध की उपलब्धियां हैं।

प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य क्षेत्र में शोधोपलब्धियों के अतिरिक्त हिन्दी शोध की सर्वाधिक उपलब्धि आधुनिक साहित्य में हुई है। शायद ही आज आधुनिक हिन्दी साहित्य का कोई ऐसा पक्ष होगा, जिस पर शोधार्थियों की कृपा न हुई हो। सम्प्रति शोधार्थी सूक्ष्मान्वेषी, दूर तथा गहन-दर्शी, मानव-ज्ञान के अन्य अनुशासनों का जानकार और तथ्यों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समझ सकने में समर्थ है। यही कारण है कि समीक्षक और अनुसंधित्सु दोनों नयी जमीन तोड़ने में विश्वास रखते हैं—काव्य नाटक और कथा-साहित्य की विभिन्न विधाओं में वे अपने कौशल का परिचय दे रहे हैं। इसीलिए उनकी उपलब्धि भी बहुमुखी है। उक्त उपलब्धि की बानगी डॉ उदय भानुसिंह की पुस्तक 'हिन्दी में स्वीकृत शोध-प्रबन्ध,' डॉ विनय मोहन शर्मा की रचना, 'शोध प्रविधि' तथा डॉ. सरनाम सिंह शर्मा की 'शोध प्रक्रिया एवं विवरणिका' में दी गई लम्बी सूचियों में देखी जा सकती है। डॉ. सरनाम सिंह शर्मा की विवरणिका में अठारह वर्गों में शोध को विभाजित किया गया है। वर्ग

निम्नानुसार हैं, उनके आगे कोष्टक में दी गई संख्या शोध-ग्रन्थों की है, जिन पर अब तक पी एच डी उपाधि दी जा चुकी है—

1 भाषा तथा बोली सम्बन्धी शोध । (250)
2 काव्य शास्त्रीय (सैद्धान्तिक) शोध । (45)
3 काव्य सिद्धान्त प्रयोग । (140)
4 कविता (सामान्य) । (180)
5 हिन्दी कविता (पूर्वाधुनिक काल) । (150)
6 आधुनिक साहित्य (सामान्य) । (80)
7 आधुनिक कविता । (150)
8 हिन्दी गद्य (सामान्य) (60)
9 हिन्दी गद्य की विधाए (क) नाटक (75) (ख) कथा-साहित्य—(i) सामान्य (30) (ii) उपन्यास (100) (iii) कहानी (15) (ग) निबन्ध और आलोचना—(i) निबन्ध (10) (ii) आलोचना । (35)
10. विशेष साहित्यकार या विधाकार (i) अनुशीलन-विवेचना (225), (ii) इतिहास-विकास (10), (iii) साहित्यिक सिद्धान्तो का प्रयोग (25), (iv) पृष्ठभूमि, भूमिका, आधार, स्रोत (15), (v) परम्परा या धारा (8), (vi) समाज, संस्कृति और नीति (35), (vii) धर्म, दर्शन और मनोविज्ञान (30), (viii) तुलना (30), (ix) प्रभाव, देन और योग (25), (x) प्रवृत्ति (2), (xi) प्रकृति, प्रेम और सौन्दर्य (2), (xii) वाद (5), (xiii) शैली (5),
11 कृति विशेष । (90)
12 पंथ और सम्प्रदाय । (50)
13 वर्ग, स्थान और प्रदेश से सम्बन्धित विषय । (70)
14 संस्कृति, समाज और नारी ।,(90)
15 लोक साहित्य । (85)
16 इतिहास-विकास (उद्गम और विकास) । (20)
17 तुलनात्मक अध्ययन । (150)
18 प्रकीर्ण या विविध । (100)

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि हिन्दी शोध भारत के शताधिक विश्वविद्यालयों में बहुमुखी विकास को प्राप्त हो रहा है । भारतीय हिन्दी परिषद् ने सन् 1976 में 'हिन्दी अनुशीलन' का शोध विशेषांक (भाग 1–2) प्रकाशित करके हिन्दी

शोध की उपलब्धि पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है । जिन विषयों को लेकर विश्व-विद्यालयो ने पी–एच डी या डी लिट् की उपाधियाँ प्रदान की हैं, उनकी दीर्घ सूचियां *'हिन्दी अनुशीलन'* मे प्रस्तुत की गई हैं. अन्त मे नामानुक्रमणिका देकर व्यक्ति और विषय का सम्बन्ध खोज लेने की सुविधा भी जुटाई है । हम अपने पाठकों की सुविधा के लिए वहा दिए गए विषय शीर्षको के अन्तर्गत प्राप्त उपाधियो की सख्या※ देना समीचीन समझते हैं—विषयो का सही रूप वे उक्त विशेषाक में देखे—

1 आदिकाल (61), 2 आदिकाल कवि और काव्य (17)
3 विद्यापति (10) 4 *मध्यकालीन काव्य . सामान्य* (58)
5 भक्तिकाल (सामान्य) (124) 6 भक्तिकाल (तुलनात्मक) (11)
7 सन्त-साहित्य (87) 8 सन्त साहित्य तुलानात्मक (10)
9 विभिन्न सन्त कवि (5) 10 कबीर (35)
11 अन्य सन्त कवि (56) 12 सूफी काव्य (41)
13 सूफी कवि और कृतिया (42) 14 रामकाव्य (49)
15 तुलसीदास (142) 16 कृष्ण काव्य (78)
17 कृष्ण ाव्य विशिष्ट कवि नन्ददास (7) 18 मीरा (7)
19 सूर साहित्य (68) 20 भक्तिकालीन अन्य कवि (14)
21 रीतिकालीन काव्य (96) 22 रीतिकाल के विभिन्न कवि (46)
23 विहारी (13) 24 *विविध* (27)
25 आधुनिक काव्य (177) 26 आ काव्य तुलनात्मक अध्ययन (29)
27 छायावाद (51) 28 छायावादोत्तर काव्य (30)
29 स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य (17) 30 नयी कविता, प्रगतिवाद प्रयोगवाद(27)
31 गीतिकाव्य (12) 32 विशिष्ट कवि अज्ञेय (1)
33 गजानना माधव मुक्ति बोध (3) 34 दिनकर (13)
35 निराला (34) 36 सुमित्रानन्दन पन्त (23)
37 जयशकर प्रसाद (54) 38 महादेवी वर्मा (11)
39 हरिवश राय 'बच्चन' (3) 40 मैथिलीशरण गुप्त (22)
41 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (10) 42 प रामनरेश त्रिपाठी (5)
43 *अयोध्यासिह उपाध्याय* (4) 44 अन्य विविध कवि (29)
45 हिन्दी कवि सामान्य (83) 46 हिन्दी साहित्य (87)
47 हि साहित्य का इतिहास (19) 48 हिन्दी उपन्यास सामान्य (111)
49 ऐतिहासिक उपन्यास (7) 50 प्रसाद प्रमचन्द-पूर्व उपन्यास (6)

※ विषय शीर्षको के सम्मुख कोष्टक में उपाधियो की सख्या दी गई है ।

51. प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास (39)
52. श्राधुनिक उपन्यास (36)
53. श्राचलिक उपन्यास (13)
54. हि उपन्यास तुलनात्मक (30)
55. विशिष्ट उपन्यासकार : अज्ञेय (6)
56. अमृतलाल नागर (5)
57. जोशी, अश्क, उपादेवी (6)
58. किशोरीलाल गोस्वामी (2)
59. गिरिजादत्त शुक्ल (1)
60. श्राचार्य चतुरसेन (10)
61. जगमोहनसिंह (2)
62. जयशकर प्रसाद (2)
63. जैनेन्द्र कुमार (8)
64 देवकी नन्दन खत्री (1)
65. नागार्जुन (3)
66. प्रेमचन्द (39)
67. निराला (1)
68. प्रतापनारायण श्रीवास्तव (1)
69. व्रजनन्दन सहाय (1)
70. बालकृष्ण भट्ट (1)
71. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (3)
72. भगवतीचरण वर्मा (1)
73. भगवती प्रसाद वाजपेयी (2)
74 यशपाल (8)
75. रांगेय राघव (5)
76. राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह (5)
77. राहुल साकृत्यायन (11)
78 विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (1)
79 वृन्दावन लाल वर्मा (9)
80. सियाराम शरण गुप्त (1)
81. कुवर हनुमत 'रघुवशी (1)
82. कहानी (61)
83. नाटक (126)
84. प्रहसन-एकाकी (7)
85. नाटक : तुलनात्मक अध्ययन (18)
86. हिन्दी नाटक . लेखक और कृतिया (39)
87. गद्य साहित्य (सामान्य) (42)
88. विशिष्ट गद्यकार (39)
89 निबन्ध, आत्मकथा, सस्मरण आदि (26)
90. हास्य-व्यग्य साहित्य (4)
91. पत्रकारिकता (15)
92. काव्य शास्त्र (69)
93. आलोचना (34)
94 विशिष्ट आलोचक (16)
95. लोक साहित्य (96)
96 भाषा और बोली (196)
97. मुहावरे और लोकोक्तिया (9)
98 राजस्थानी साहित्य (63)
99. विविध (91)

कुल सख्या 3161

तात्पर्य यह कि 'हिन्दी अनुशीलन' ने 3161 शोध-प्रबन्धो की सूची प्रस्तुत करके सिद्ध कर दिया है कि अब तक लगभग चार हजार शोध-ग्रथ उपाधि के लिए स्वीकृत हो चुके हैं। एक हजार वर्ष का हिन्दी साहित्य तथा स्वय भाषा और उसकी बोलियो पर अनुशीलन, परीक्षण या मूल्याकन युक्त साहित्य भी बहुत व्यापक है। इस साहित्य को विद्वानो, अनुसधित्सुओ ने अपने जीवन से सींचा है, उसके प्रत्येक पक्ष को उजागर किया है, अनेक नवीन तथ्यो का उद्घाटन किया है और गर्व-पूर्वक हिन्दी साहित्य की उन्नति मे अपना योगदान दिया है। यही सब हिन्दी मे अब तक के शोध-कार्य की उपलब्धि है।

(iv) शोध-प्रबन्धों को वर्तमान स्थिति—किसी भी भाषा और साहित्य

के विभिन्न अंगों पर जब पर्याप्त मात्रा में शोध हो चुकी होती है, तब धीरे धीरे उसकी स्थिति में ह्रास, स्थिरता, रूपान्तरण और क्षुरण आने लगते हैं। हिन्दी में भी आज चार हजार शोध-प्रबन्ध लिखे जाने के उपरांत यदि इन पतनोन्मुखी तत्त्वों का सम्मिश्रण होने लगा हो, तो कोई विशेष अचम्भा नही। ह्रास वह तत्त्व है, जो शोध में धैर्य, श्रम और सन्तोष के घटने पर उदित होता है। वर्तमान शोधार्थी का लक्ष्य उपाधि-प्राप्ति मात्र रह गया है। उसे उपाधि के चेक की नियुक्ति के बैंक में भुनाने की जल्दी होती है। उसकी आर्थिक स्थिति उसे इसके लिए विवश करती है और वह शोध-स्तर से छिटक कर अधीरता-पूर्वक डिग्रीधारी बनने की उतावली में सम्भावित उन्नत कार्य का गला दबा देता है। यही शोध का ह्रास है।

एक बार शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करके उपाधि प्राप्त कर लेने और उसके पश्चात् शोध-क्षेत्र से नाता तोड़ लेने को 'स्थिरता' कहते हैं। वर्तमान युग में ह्रास से भी अधिक स्थिरता का बोल-बाला है। शोध प्रबन्ध तैयार करने के लिए प्रत्याशी जो प्रशिक्षण तथा अनुभव प्राप्त कर लेता है, अधिकतर उनका कोई लाभ भविष्य में वह नही उठा पाता। सैकड़ो की संख्या में पी-एच डी उपाधिधारक ऐसे 'विद्वान' मौजूद हैं, जिन्होंने थीसिस प्रस्तुत करने की प्रक्रिया को तो क्या, शेष जीवन में कभी उतनी तत्परता पुस्तक को हाथ भी नहीं लगाया होगा। महाविद्यालयों में निश्चित पाठ्यक्रम के वाचन एवं अध्यापन से अधिक अन्य किसी रचना को देखने की वे कल्पना ही नहीं करते। ऐसी दशा में अपने शोध-विषय सम्बन्धी उनका ज्ञान तो कुंठित होता ही है, साहित्य के सम्बन्ध में भी वे उपेक्षाधारी होते हैं और ज्ञान-क्षेत्र में स्थिरता (Stagnation) का कारण बनते हैं। 'स्थिरता' शोध-क्षेत्र का सबसे बड़ा दश है।

अनेक शोधकर्त्ता ऐसे भी देखे गए हैं, जो आयु भर अपने पी-एच. डी के शोध विषय के गिर्द ही मंडराते रह जाते हैं। अपने शोध-प्रबन्ध के रूप बदल कर वे नवीन साहित्यिक देन के झूठे दावे करते रहते हैं, नयी बोतलों में पुरानी मदिरा प्रस्तुत करते हैं, शोध-प्रबन्ध के संकीर्ण घेरे से बाहर आने की क्षमता ही उनमें नहीं होती—उनकी तथाकथित रचनाओं में पुराने विषय के बदले हुए रूप ही वास्तव में 'रूपांतरण' कहलाते है। शोध-प्रबन्धों के रूपांतरकारों की संख्या में भी वर्तमान स्थिति में पर्याप्त वृद्धि हो रही है। कभी कभी इधर-उधर के पूर्व-कालिक शोध प्रबन्धों में से सामग्री का रूपांतरण करके एक नया शोध-प्रबन्ध रच लिया जाता है। यह एक प्रकार से अनचीन्ही चोरी (**Undetected theft**) ही होती है।

क्षुरण की स्थिति बड़ी निराशाजनक है। किसी लाभ की आशा से, दूसरों की देखा-देखी अथवा विवाह के बाजार में लड़कियों की कीमत बढ़ाने के लिए कुछ लोग शोधार्थ विश्वविद्यालयों में पंजीकरण प्राप्त कर लेते है। यदि छात्रवृत्ति प्राप्त होती हो तो चार-चार वर्ष तक शोध-छात्र बने रहने का गौरव भी पाते हैं। शुरू शुरू में इतनी तीव्र गति से कार्यारम्भ करते हैं कि दो ही वर्ष में उनके पी-एच डी.

हो सकने की सम्भावना होने लगती है। किन्तु समय के बीतने के साथ-साथ ये शोध-र विषय तथा अध्ययन कार्य से विमुख होने लगते हैं। यो समझिए कि यदि पचास प्रत्याशी पंजीकरण प्राप्त करते हैं, तो उनमे से बीस शोधार्थी ही समयानुसार कार्य सम्पन्न कर पाते हैं, अर्थात् 60% क्षरण हो जाता है। कबीर ने वर्षों पूर्व शायद इसी स्थिति का चित्रण किया था—

पानी भरन पनिहारियाँ रंग रंग घडे
भरिया उसका जानीए, जिसका तोड घडे।

पानी भरने जाने मात्र से ही तो पानी भरने का श्रेय नही मिल सकता। जो पनिहारिन भरा हुआ घट लक्ष्य तक ले आएगी, उसी को श्रेय है। यही स्थिति शोध प्रबन्धो की है। पंजीकृत शोध छात्रो की सख्या से शोध-ग्रथो की संख्या का अनुमान सम्भव नही है, क्योकि इस समय लगभग 50-60 प्रतिशत क्षरण हो रहा है।

तात्पर्य यह कि ह्रास, स्थिरता, रुपातरण एव क्षरण से बचकर जो निखरे हुए शोध-प्रबन्ध सामने आते हैं, वे ही वास्तव मे आधुनिक साहित्यक शोध का सही परिमाण और सही स्तर निर्मित करते हैं। वर्तमान काल मे ऐसे शोध-ग्रथो की भी हिन्दी मे कमी नही है। उच्च स्तरीय, विद्वत्तापूर्ण सुन्दर रचनाओ का अभाव हिन्दी मे नही। पचास म से जो बीस शोध-प्रबन्ध सामने आते हैं, वे निथर कर साहित्य की समृद्धि का एक सशक्त स्तर स्थापित करते हैं। हिन्दी शोध को आज किसी भी दशा म निर्बल या निष्क्रिय नही कहा जा सकता। यदि वही इस दिशा में होने वाला समग्र प्रयास उपर्युक्त पतनोन्मुखी तत्त्वो से सुरक्षित रह सकता, तो निश्चय ही आज हिन्दी साहित्य मे शोध का नया विषय खोजना कठिन हो जाता।

(v) शोध-प्रबन्धों से इतर शोधात्मक समीक्षा-ग्रथों की स्थिति—वर्तमान हिन्दी साहित्य में समीक्षात्मक ग्रथो की तीन कोटियां हैं—1 मूल ग्रथो की टीकाएँ एव सहायक ग्रथ (कुंजियें तथा 'एक अध्ययन' भी इसी मे सम्मिलित हैं) 2 स्तरीय समीक्षा तथा 3 शोध परक समीक्षा। प्रथम कोटि की पुस्तको की भरमार है। सस्ता लेखन, असावधानीपूर्ण मुद्रण एव प्रकाशन, कम दाम मे अधिक पृष्ठ—ये इन ग्रथों की विशेषताएँ हैं। कोई भी पुस्तक यदि दुर्भाग्यवश किसी भी विश्वविद्यालय की किसी भी श्रेणी के लिए पाठ्य-पुस्तक नियत कर दी जाय, तभी पखवाडे-भर मे उसका 'एक अध्ययन' मार्किट मे देखा जा सकता है। कुछ 'एक अध्ययन' निश्चय ही परिश्रम और धैर्य का प्रमाण देते हैं, किन्तु बहुधा इनका स्तर निम्न कोटि का ही होता है। कतिपय टीकाएँ निस्सन्देह उच्च स्तरीय होती हैं, किन्तु परीक्षार्थी को कम दाम मे पाठ्यक्रम का पूर्ण विवरण देने की दौड मे लगे प्रकाशक कदाचित् साहित्यिक स्तर का गला दबा देने मे बढ-चढकर भाग लेते हैं। लेखक को दो रुपये पृष्ठ के दर

से पारिश्रमिक देकर वे सप्ताह भर के समय म सौ पृष्ठो की पाठ्य पुस्तक पर ग्रढाई सौ पृष्ठो की गाईड या सहायक पुस्तक तैयार करवा लेते हैं। उसकी रचना की मूल चेतना पाठ्य–पुस्तक को ग्रनावश्यक ठहराने की होती है। परिणामत पाठ्य पुस्तक विके या न विके गाईड धडाधड विकती है। तात्पय यह कि प्रथम कोटि की उक्त समीक्षात्मक रचनाएँ ग्राज ग्रसख्य छपती ग्रौर बिकती हैं किन्तु न तो इन सहायक पुस्तको के लेखक कोई महत्त्व ग्रर्जित कर पाते हैं ग्रौर न ही ये रचनाएँ हिन्दी ग्रालोचना के विकास मे कोई स्थान प्राप्त करती हैं।

दूसरी प्रकार के स्तरीय समीक्षा ग्र थ हैं। प्रथम कोटि की रचना की तुलना मे ये स्तरीय रचनाएँ ग्राठवां या दसवां भाग होती हैं। प्रश्नोत्तरियाँ तथा सहायक पुस्तकें छापने वाले प्रकाशक उक्त प्रकार की रचनाग्रो को छापना पसन्द नही करते। परिणामत प्रकाशन लेखक की निजी समस्या बन जाता है। प्राय लेखक को कुछ धन ग्रपनी ग्रोर से लगाकर स्तरीय रचना को प्रकाशित करने की योजना बनाना पडती है व्यापारी के हाथो छला जाकर पुस्तक में लगाया गाठ का पैसा प्राय उसे खो देना पडता है, ग्रौर तब भविष्य के लिए उसकी स्तरीय सरचना पर ग्र कुश लग जाता है। तात्पर्य यह कि स्तरीय समीक्षा, चाहे वह किसी भी परिणाम म हो, दिन-प्रति–दिन घटती चली जा रही है। प्रकाशक को शिकायत है कि ग्राहक नहीं लेता (उस सस्ते दाम मे सस्ती समीक्षा मिल जाती है) लेखक को गिला है कि छापने वाला नही मिलता ग्रौर दोनो के बीच गम्भीर पाठक उत्तम कोटि की स्तरीय सामग्री से ग्रचित रह जाता है। तथापि इस कोटि के जो रचनाएँ हिन्दी में ग्राज प्रकाशित हो रही हैं, व उच्च स्तर की हैं। वर्गीकरण करते हुए हम उन रचनाग्रो को ग्रनेक वर्गों म विभाजित कर सकते हैं—

(क) लेखक विशेष का समग्र साहित्य यथा यशपाल व्यक्तित्व ग्रौरकृतित्व।
(ख) लेखक विशेष का विधा–जन्य साहित्य यथा कवि प्रसाद, प्रसाद के नाटक, उपन्यासकार जैनेन्द्र मूल्यांकन ग्रौर मूल्याकन।
(ग) कृति विशेष यथा ग्रमिता कृति ग्रौर कृतिकार, साकेत–एक ग्रध्ययन, कामायनी, मूल्याकन ग्रौर मूल्यावन।
(घ) दो कृतियो तुलना यथा रामचरितमानस ग्रौर साकेत।
(ङ) दो कवियो की तुलना कबीर ग्रौर जायसी, सूरदास ग्रौर तुलसी।
(च) धाराजन्य ग्रध्ययन यथा हिन्दी कविता—ग्राधुनिक ग्रायाम, छायावादी काव्य।
(छ) विधाजन्य ग्रध्ययन ग्राधुनिक हिन्दी नाटक, व्यक्तिवादी उपन्यास। नयी कहानी की भूमिका।
(ज) भापा-बोली ग्रादि ग्राधुनिक भाषा विज्ञान, साहित्यशास्त्र ग्रौर काव्य भाषा।
(झ) काव्यशास्त्रीय यथा भारतीय काव्य शास्त्र, पाश्चात्य काव्य शास्त्री।

(ञ) सम्पादन : विभिन्न लेखकों द्वारा किसी विषय पर लेख लिखवाकर संकलित करना।

यथा हिन्दी उपन्यास के पद-चिन्ह, आधुनिक हिन्दी उपन्यास आदि।

उपर्युक्त दस प्रकार की स्तरीय रचनाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार की रचनाएं भी इस कोटि में देखी जा सकती हैं—कहीं 'साहित्यिक निबन्धों' के संग्रह छप रहे हैं, तो कहीं 'हिन्दी साहित्य के समीक्षात्मक इतिहास।' कुछ भी हो, सब प्रकार की कठिनाइयों के रहते भी इस कोटि की रचनाओं की प्रशंसनीय प्रगति हिन्दी जगत में देखी जा सकती है।

शोध-परक समीक्षा ग्रंथ दूसरी कोटि की रचना से भी कहीं कम प्रकाश में आ रहे हैं। शोध-प्रबन्धों का महत्त्व तो उपाधि-प्राप्ति तक सीमित होता है, छापने के लिए प्रकाशक मना कर देते हैं। अपना प्रकाशित ग्रंथ देखने की रुचि हुई तो लेखक स्वयं धन लगा देता है या सम्भव हुआ तो किसी शैक्षणिक संस्था से अनुदान प्राप्त करता है। किन्तु शोध-स्तरीय कतिपय समीक्षा ग्रंथ भी देखने में आते हैं, जैसे डॉ. माताप्रसाद गुप्त द्वारा किया गया रामचरितमानस का पाठालोचन या डॉ. सत्यपाल चुघ का 'ऐतिहासिक उपन्यास'। उक्त प्रकार के ग्रंथों की संख्या हिन्दी में अधिक नहीं है, किन्तु इनका अभाव भी नहीं है। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त का 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' किसी भी उच्च कोटि के साहित्येतिहास सम्बन्धी शोध-प्रबन्ध से अच्छी रचना है। डॉ. ब्रजलाल गोस्वामी की पुस्तक 'महादेवी की कविता संशय और समाधान' इस दिशा में एक सुन्दर रचना कहीं जा सकती है। हिन्दी में जो ग्रंथावलियां सम्पादित की जा रही हैं, यथा हरिचरणदास ग्रंथावली (डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित), चन्द्रशेखर बाजपेयी ग्रंथावली (डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), तुलसी ग्रंथावली (डॉ. माताप्रसाद गुप्त) या जायसी ग्रंथावली (आ. शुक्ल) आदि, वे भी शोधपरक समीक्षाएं एवं सम्पादित मूलपाठ का संगम है।

निष्कर्षतः स्पष्ट है कि वर्तमान हिन्दी साहित्य में शोध-परक समीक्षा ग्रंथों की स्थिति विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। विद्वज्जन उपाधि रहित शोध में लगभग विश्वास खोते जा रहे हैं। हमारी सोच में इसका एक मात्र कारण है ऐसे समृद्ध कार्यों के लिए प्रकाशन सुविधाओं की अनुपलब्धि। यह स्थिति सुधारने के लिए प्रकाशन-सुविधाओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

अध्याय 6

शोध विषय : समस्याएं समाधान

हिन्दी में आज अनेक क्षेत्रों से शोध-विषयों का चुनाव हो रहा है। गत अध्यायों में हम उक्त क्षेत्रों की सूचियां एवं सम्भावित विषयों के संकेत दे चुके हैं। यहां शोध-विषयों के चुनावोपरांत आने वाली समस्याओं तथा उनके समाधान की चर्चा हमें करनी है।

अधिकांशत वर्तमान विषय-चुनाव निपट साहित्य सम्बन्धी न होकर अलग-अलग विज्ञानों एवं शास्त्रों पर आधृत होता है। साहित्याध्ययन को कभी दार्शनिक, कभी समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक अथवा कभी सौंदर्य शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य म देखने-जांचने के प्रयास अधिक हो रहे हैं। सहज ही ऐसी स्थिति में एक समस्या उपजती है—शोधार्थी के प्रति एक प्रश्न-चिन्ह लगता है, क्या शोधार्थी उक्त पक्ष से विज्ञान अथवा शास्त्र के स्तर पर परिचित है। साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने वा इच्छुक अनुसंधित्सु मनोविज्ञान का कितना ज्ञान रखता है? दार्शनिक पक्ष में चक्षुपात करने वाले ने क्या कभी भारतीय अथवा पाश्चात्य दर्शन का परायण किया है? सांस्कृतिक अथवा समाजशास्त्रीय अध्ययन करने वाले शोधार्थी संस्कृति या समाजशास्त्र से किस सीमा तक अभिज्ञ हैं? काव्य का सौंदर्यशास्त्रीय पक्ष प्रस्तुत करने वाले ने क्या कभी सौंदर्यशास्त्र का अध्ययन किया भी है? ये सब एक ही स्तर एव एक ही पहलू की समस्याएं हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध ज्ञान के साहित्येतर किसी अन्य अनुशासन से है। प्राय: देखने मे आता है कि विद्यार्थी एम ए या एम फिल् (साहित्य) करने के उपरांत जब शोध-पंजीकरण का प्रश्न उठाते हैं तो बिना सोचे-विचारे अन्तर अनुशासनात्मक विषयों की ओर हाथ बढ़ाने लगते हैं। पंजीकरण भी हो जाता है, सम्भवत कार्यारम्भ करने तक भी उन्हें आगामी समस्या की जानकारी नहीं होती। किन्तु ज्यों-ज्यों कार्य में प्रगति होने लगती है, शोधार्थी का सिर दर्द आरम्भ होता है। सामाजिक स्थिति ही तो समाजशास्त्र नहीं है, मन की ऊहापोह ही तो मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं बन सकती—तब प्रश्न उठता है कि सही ढंग से अन्तर् अनुशासनात्मक शोध प्रबन्ध क्योंकर प्रस्तुत किया जाय? समाजशास्त्र हो या मनोविज्ञान, सौंदर्यशास्त्र हो अथवा दर्शन या संस्कृति, सभी विधा के अलग क्षेत्र हैं। विधा के प्रमुख क्षेत्र का ज्ञान पाने के लिए उतनी ही गम्भीर लग्न चाहिए, जितनी साहित्य का अध्ययन करते हुए हमसे अपेक्षित थी। किन्तु उस परिस्थिति मे शोधार्थी

लग्न के उक्त स्तर से टूट चुका होता है, परिणामत वह चाहता है कि दूसरे ज्ञान की पारगत जानकारी की अपेक्षा शीघ्रता पूर्वक शोध-प्रबन्ध को निपटाए और उपाधि-धारी बनकर उपादेयता के क्षेत्र मे पुनर्स्थापित हो सके। यही वह अधीरता की दशा है, जो शोधार्थी की हत्या करती है, उसकी शोध-प्रतिभा का गला दबा देती है। यह स्थिति हानिकारक होती है। प्रथम तो ऐसे शोधार्थी को विषय चयन करते समय किसी अन्य अनुशासन को साथ मिलाना नही चाहिए था, और यदि वह भूल से ऐसा कर ही चुका है, तो अब उसे धैर्य पूर्वक उक्त अनुशासन का सही अध्ययन कर लेना चाहिए। समाजशास्त्र रूप म सम्मुख आता है तो वह सामाजिकता का पर्याय नही होता। यह बात समाज शास्त्र के अध्ययन से ही जानी जा सकती हैं। कोई भी शास्त्र या विज्ञान कुछ सिद्धान्तो का निर्वहन करता है, किन्तु कोई भी कवि या लेखक उन सिद्धान्तो से बधकर नही लिखता। ऐसी स्थिति मे जरूरी है कि शास्त्र/विज्ञान के सिद्धान्तो को न केवल जाना ही जाय, बल्कि उन्हें काव्य या कृति मे घटाने की क्षमता अर्जित की जा सके। इस प्रकार की विस्तृत जानकारी मे ही उक्त समस्या का समाधान है। फ्रायड मार्क्स, गाधी, लेनिन या अरविंद के सिद्धान्तो का विस्तृत ज्ञान, जब तक प्राप्त न किया जाय, तब तक साहित्य मे उन सिद्धान्तो की खोज का प्रयास सफलीभूत नही हो सकता। हमारा सुझाव है कि अन्तर्-अनुशासनात्मक विषय का चुनाव करने वाले शोधार्थी को चाहिए कि वह साहित्येतर अनुशासन का विधिवत् ज्ञान प्राप्त करे। यह उपलब्धि भी इतनी स्तरीय होनी चाहिए, कि शोधार्थी न केवल साहित्य की व्याख्या ही उक्त अनुशासन के माध्यम से करने मे समर्थ हो प्रयुक्त उक्त दिशा मे साहित्य मे उभरते हुए सिद्धान्तो की नव-स्थापना कर सके। तात्पर्य यह कि शोधार्थी ऐसे विषयो के लिए जब तक सहयोगी विषय का भी साधिकार ज्ञान नही पा लेते, उच्च कोटि की शोध प्रस्तुत नही कर सकते।

शोध विषयक एक कमी हमारे युवा शोधार्थियो में यह पाई जाती है कि वे क्षेत्रीय कार्य करने से कतराते हैं। उनके लिए ऐसे विषय सिरदर्द बन जाते हैं, जिनमें उन्हे घर से निकलकर जगह जगह भटकते हुए सामग्री सकलन करनी होती है। वे टेबल-वर्क चाहते हैं—सामग्रीय-सकल के लिए शरीरी प्रयास उनकी समस्या हैं। शायद यही कारण है कि आजकल पजीकरणार्थ प्रस्तुत होने वाले अधिकाश विषय कथा-साहित्य के अनुशीलन-मूल्याकन अथवा मध्यकालीन प्रकाशित साहित्य से सम्बन्धित होते हैं। अप्रकाशित, अज्ञात पाण्डुलिपियो की सामान्य समीक्षा करना भी उन्हे भारी पड़ता है। ऐसे शोधार्थियो के लिए मेरे विचार मे विश्वविद्यालयो द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए। उनका पजीकरण तब तक स्वीकृत नही होना चाहिए जब तक कि वे टेबल वर्क से अपना दामन छुड़ाने मे समर्थ नही होते। महिला शोधार्थियो को, उनकी वैयक्तिक कठिनाइयो तथा भारतीय समाज मे नारी की स्थिति को परखते हुए, क्षेत्रीय कार्य से कुछ सीमा तक छूट दी जा सकती है। पुरुष अनुसधाता भी यदि

घर से बाहर निकलकर कार्य करने से जी चुराएंगे, तो शोध का रूप कभी निखर नहीं सकेगा। यह आलस्य की और परिश्रम से भागने की समस्या है, इसका स्वाभाविक समाधान धैर्य, सन्तोष, कर्तव्यशीलता एवं सलग्नता में है। सच्चे अर्थों में शोधापेक्षी कार्यकर्त्ता परिश्रम से कभी नहीं घबराता। हां, आर्थिक स्तर पर दुर्बल व्यक्ति को क्षेत्रीय कार्य कठिन पड सकता है। इधर-उधर जाना-आना, विद्वानों से मिलना पाण्डुलिपियों की जीरॉक्स या फोटोस्टेट बनवाना महगा कार्य है। मात्र इस स्थिति में शोध-सस्थानों को शोधार्थी-कार्य से हटाकर प्रकाशित एवं उपलब्ध साहित्य के अनुशीलन से जोड देना ही समीचीन है।

पाण्डुलिपियों के सम्पादन अथवा पाठालोचन के विषयों पर शोध करने के महत्त्वाकांक्षी सर्वाधिक समस्याओं का सामना करते हैं। ऐसे अनुसधित्सुओं को लेखक की मूल हस्तलिखित प्रति तो शायद 1/ अवसरों पर ही मिलती होगी। उन्हें उपलब्ध पाण्डुलिपियों से, जो कि न जाने मूल से कितनी दूर की प्रतिलिपियाँ होती हैं, अपना कार्य चलाना होता है। लोप अथवा वृद्धि के कारण विकृत पाठ का सही निर्धारण एक कठिन समस्या है, यदि पाठ-सम्पादन करना हो, तो नीचे से ऊपर तक पाण्डुलिपियों के वश-वृक्ष की नियति में फसे मूल की निकटतम प्रति की खोज और भी कठिन कार्य हो जाता है। प्रस्तुत समस्या का समाधान भी निश्चय ही धैर्य एवं परिश्रम में निहित है। धैर्यपूर्वक एक-एक शब्द या वाक्य-खड का मिलान करना, परिश्रम से सहायक सामग्री सकलित करना, खूब सचेत रहते हुए कवि-काल और प्रवृत्ति को समझ कर सम्भावित शब्दों अथवा वाक्य-खडों का चुनाव करना आदि पद्धतियों से ही पाठालोचन की सब कठिनाइयों पर पार पाया जा सकता है। पाण्डुलिपियों का समूचा कार्य क्योंकि क्षेत्रीय होता है, इसलिए शोधार्थी को धन-बल, श्रम बल एवं मैत्री-बल से व्यापक कार्य निकालने पड़ते हैं। पुराने पुस्तकालयों में पाण्डुलिपि की प्रति खोज लेना, उसकी जाँच करने अथवा फोटो-स्टेट/माईक्रोफिल्म बनवाने की अनुमति प्राप्त करना अथवा पाण्डुलिपियों की सम्पत्ति पर सर्पसम बैठे प्रचड सरक्षकों को प्रभावित कर पाना बडी कठिन साधना है। इस दिशा में बढने वाले शोधार्थी का मैत्री क्षेत्र अतीव विस्तृत होना चाहिए अपनी शोध का महत्व दूसरे को समझा सकने का सामर्थ्य होना चाहिए—तभी कहीं वह समस्या मुक्त रह सकता है।

साहित्याध्ययन करते हुए अनेक नवीन शकाएँ उत्पन्न हो रही हैं। अधिकाशत ये शकाएँ परम्परित मूल्यों से इतर होती हैं, इसलिए इनके सम्बन्ध में कुछ भी कह पाना कठिन होता है—रूढि तोड़ना साहस का कार्य है किन्तु उसकी जगह नयी स्थापना अध्यवसाय की विभूति है। आलोचना सहकर, गाली खाकर तथा व्यग्यों-उपालम्भों के पात्र भी बनकर भी अपनी बात सयुक्तिक समर्थन करते रहने का धैर्य इस प्रकार की समस्या का एक-मात्र समाधान है। आज जब हम हिन्दी साहित्येतिहास का परायण करते हैं, तब आद्यन्त उसके निष्कर्षों तथा वर्णनों पर प्रश्न-चिन्ह लगाने

सगाने के लिए हम वाधित हो जाते हैं। 1 साहित्येतिहास का सही प्रतिपादन काल-विभाजन से सम्भव है, या प्रवृत्ति-जन्य वर्णन के माध्यम से यह समीचीन बैठता है ? क्या तुलसीदास शैव थे, जो उन्होंने अपने काव्य मे शिव आराधना को इतना अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया ? 3 लोग कहते हैं तुलसी समन्वयवादी थे, क्या शैवो-वैष्णवो के अतिरिक्त दूसरो मे समन्वय स्थापित करना उन्हें खलता था या उनके नाम के साथ समन्वय की धारणा परम्परा के कारण जुड गई है ? 4 सन्तो की प्रेम-धारणा क्या सचमुच सूफियो की देन थी, या एक मिथ्या भ्रम की स्थापना ही ,नित्य बन गई है ? 5 क्या हिन्दी का समूचा साहित्य ही रति-भाव (माधुर्य) प्रेरित नही ? 6 वीर-रस का समृद्ध साहित्य प्राप्त होने पर भी शृ गारकाल नाम कहाँ तक उचित है ? 7. क्या भारतेन्दु को सही अर्थों म राष्ट्रवादी कहा जा सकता है ? 8 क्या नयी कविता अथवा प्रयोगवाद रूमानियत से छूट पाए हैं ? 9 क्या समसामयिक रचना दिशाहीन स्थिति को उजागर कर रही है ? 10 पिछले तीस वर्षों म 35–36 सौ शोध-प्रबन्धो के उपाधि प्राप्ति के योग्य समझ लिए जाने पर क्या हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन का प्रश्न नहीं उठता ? आदि ऐसे प्रश्न-चिन्ह हैं जो शकाम्रो मे उगते और तर्कों-युक्तियो मे पनपते हैं। इनका समाधान तर्कों की सुदृढता और कार्य की व्यापकता म सम्भव है। विद्वान भेद की नियति से उक्त प्रकार की शकाएँ बढती-घटती रहती हैं।

आजकल आधुनिक साहित्य का आकर्षण अधिक हो रहा है। मध्यकालीन अथवा प्राचीन साहित्य की ओर बढने वाले दो-चार प्रतिशत ही रह गए दीख पडते हैं। दुर्भाग्यवश यह धारणा व्याप्त होने लगी है कि आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोध ही वास्तव म व्यक्ति को युगानुकूल बनाती एव आज की सगोष्ठियो में प्रतिष्ठित करती है। यही कारण है कि वर्तमान हिन्दी शोध के 60 /. विषय कथा साहित्य पर, 25 / छायावादोत्तर काव्य तथा नाटक आदि पर और और शेष 15 / मध्यकालीन साहित्य पर लिए जाते हैं। सच तो यह है कि अभी समीक्षा के सदर्भ धीरे-धीरे शोध-विषय बनकर बना{ हावी होते जा रहे हैं। किन्तु यहा समस्या यह है कि शोधार्थी विषय का चुनाव करते समय हिन्दी और हिन्दी साहित्य पर ही दृष्टि रखते हैं, युगीन चेतना की अपेक्षा कर देते हैं। यह एक सहज-मान्य विषय है कि आज का साहित्य युग की बोधात्मकता, मूल चेतना, जीवन की जटिलता, औद्योगिक, महानगरीय एकाकीपन की मानसिकता, अस्वीकृति, असन्तोष और विद्रोह का स्वर, अनास्था, घृणा और अति-यथार्थवाद की विघ्लन, मानवीय विकृतियों एव बदलते हुए मूल्य मानो को दिग्दर्शित कर रहा है। आधुनिक बोध के अन्तर्गत विभिन्न बोधों—युगबोध, सशय बोध, सत्रास बोध, मृत्यु बोध, मूल्य बोध आदि—को चित्रित किया जा रहा है। आधुनिक साहित्य के क्षेत्र मे शोध करने वाले व्यक्ति को उक्त चेतना की सही सूझ अपेक्षित है। व्यक्ति-चेतना, अस्तित्ववादी चेतना, मनोविश्लेषणात्मक चेतना, समाजशास्त्रीय चेतना आदि ऐसे तत्त्व हैं, जिनकी जानकारी के बिना

आधुनिक क्षेत्र में सफल शोध कभी सम्भव नहीं हो सकती। अत: शोधार्थी को चाहिए कि आधुनिक साहित्य सम्बन्धी विषय का चुनाव करने से पूर्व विभिन्न वादों, वादों, विचारधाराओं और पाश्चात्य प्रभावों का गहन अध्ययन करले। ऐसा न करने से वह आधुनिक साहित्य की समुचित समीक्षा करने में भी समर्थ नहीं होगा, शोध से न्याय का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

हिन्दी शोध सम्भावनाएँ

हम कह चुके हैं कि आज तक हिन्दी शोध-प्रबन्धों की संख्या लगभग 4000 हो चुकी है। शोधार्थियों ने हिन्दी साहित्य के लगभग सभी पहलुओं पर परिश्रम किया है, नयी खोजें की हैं, नवीन तथ्यों की स्थापना की है, नए ढग से पुरानी चीजों का विश्लेषण करते हुए पुनर्मूल्यांकन तथा अनुशीलन किए हैं, और इस प्रकार साहित्य को नवीन एव व्यापक दिशाएँ प्रदान की है। इतना सब होते हुए भी अनेक ऐसे क्षेत्र शेष हैं, जिनमें शोध की महती सम्भावनाएँ अभी भी मौजूद हैं। सम्भावनाओं के अन्तर्गत हम उन्हीं क्षेत्रों की चर्चा कर रहे हैं।

(क) तुलना—तुलनात्मक शोध हिन्दी में बहुत कम हुई है। हिन्दी के कवियों एव रचनाओं की तुलना हिन्दी के ही अन्य कवियों और रचनाओं से करने के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य की रचनाओं, साहित्यकारों, प्रवृत्तियों एव विधाओं से करना अपेक्षित है। यह पक्ष अत्यधिक समृद्ध है, किन्तु शोधार्थियों ने इस ओर कम ध्यान दिया है। वे दो साहित्यों का पारायण-अध्ययन करने से झिझकते हैं, दो साहित्यकारों या दो कृतियों का गहन अध्ययन करने से जी चुराते हैं। यही कारण है कि उक्त क्षेत्र अछूता तो नहीं, किन्तु इसमें कार्य अपर्याप्त है। हमारा विश्वास है कि प्रयत्न करने पर इस दिशा में विपुल सामग्री तथा अनेक सम्भावनाएँ उपलब्ध हो सकती हैं।

(ख) अनुवाद—आज का कोई भी साहित्य अपने अलग घेरे में बन्द होकर नहीं जी सकता। सम्पर्क साधनों के विकसित होने के कारण समग्र विश्व की भाषाओं के साहित्य एक दूसरे को प्रभावित करने लगे हैं। परिणामत संसार की उन्नत भाषाओं के साहित्य की श्रेष्ठ रचनाएं आज हिन्दी में भी अनुवाद होने लगी हैं। यह अनुदित साहित्य पर्याप्त मात्रा में एकत्रित हो चुका है। द्रविड भाषाओं से, बगाली मराठी, गुजराती, उर्दू, पजाबी आदि से निरन्तर अनुवाद हो रहे हैं। विश्व की अन्य भाषाओं से भी अनुवाद का सूत्र बधा है। इस अनूदित साहित्य को हिन्दी साहित्य के साथ रखकर अथवा अलग से इस पर शोधकार्य की सम्भावना हो सकती है। जिस भाषा से उस साहित्य का आयात हुआ है, उस भाषा के लेखकों की मानसिकता, विचारधारा, सोच आदि का अध्ययन इसी पद्धति से सम्भव हो सकता है। हिन्दी की किसी प्रवृत्ति विशेष पर अनूदित साहित्य के प्रभाव की जाच की जा सकती है। नयी शैलियों की चर्चा की जा सकती है, विचार की यात्रा तथा उसके पड़ावों को जाना जा सकता है। तात्पर्य

यह कि अनूदित साहित्य भी आज शोध का आधार बन सकता है, इसकी सम्भावनाएं खूब उज्ज्वल हैं।

(ग) काव्य-शास्त्र—काव्यशास्त्रीय क्षेत्र तो जैसे शोधार्थी के लिए हौम्रा बन गया है। वर्तमान स्थिति में शायद दो प्रतिशत मात्र शोध-ग्रन्थ काव्य-शास्त्रीय अध्ययनों पर लिखे जा रहे हैं। पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दोनों धाराओं के पास अपना काव्य-शास्त्र मौजूद है। किसी भी कवि की रचना, कोई भी साहित्यिक विधा काव्यशास्त्रीय कसौटियों पर आज भी परखी जा सकती है, किन्तु आज का शोधार्थी उस दिशा की ओर झांकने से भी इसलिए घबराता है कि कहीं किसी लक्षणा-व्यंजना या अलंकार-छन्द में उलझ न जाय। यह सही है कि काव्यशास्त्रीय पक्ष का अध्ययन श्रम-साध्य और सिद्धान्त निष्ठ होता है। जांच-पड़ताल में भी गहनता और सूक्ष्मता अपेक्षित है—शायद अन्य भाषाओं से बहुधा अपरिचित होने के कारण ही अब शोधार्थी इस ओर ध्यान नहीं देते। लाटिन, यूनानी, अंग्रेजी एवं संस्कृत की मूल भाषाएं निश्चय ही सीखने में भारी पड़ती हैं। इसलिए हिन्दी का शोधार्थी इन भाषाओं के बीच बैठने की अपेक्षा ऊपर ही ऊपर डिग्री-धारी बन जाना चाहता है। पुनः इसका एक दूसरा पक्ष भी है। आज के कवियों, उपन्यासकारों, कहानीकारों, नाटककारों आदि की अगणित कृतियों को सम्मुख रखते हुए उनके रचना सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है। यह कार्य पूर्वोक्त पहलू से अधिक कठिन है, इसकी पृष्ठभूमि पर एक दीर्घ साधना अपेक्षित है, किन्तु इसका महत्त्व स्थायी है। 'भक्तिकालीन कवियों के काव्य-सिद्धान्त' तथा 'आधुनिक हिन्दी कहानीकारों के रचना सिद्धान्त' की तरह अन्य अनेक शोध प्रबन्ध इसी दिशा में लिखे और स्वीकृत किए जा सकते हैं। यह क्षेत्र अभी खूब उपजाऊ है, शोधार्थी इसमें अपना लक्ष्य खोज सकते हैं।

(घ) देवनागरी से इतर अन्य लिपियों में प्राप्त हिन्दी साहित्य—अब यह तथ्य कोई रहस्य नहीं है कि मध्यकाल में फारसी, गुजराती, पंजाबी, उड़िया, असमिया आदि लिपियों में विपुल हिन्दी साहित्य लिखा गया था और अब वह दीमक का भोजन बनने के लिए पुराने तहखानों और रजवाड़ी पुस्तकालयों के सीलन-भरे एकान्त कोणों में सिर धुन रहा है। हिन्दी विद्वानों की गति उन लिपियों में नहीं थी, इसलिए वह महनीय साहित्य इतिहास न बन सका, प्रादेशिक विद्वानों की गति हिन्दी (ब्रजभाषा) में न थी, इसलिए उन्होंने उक्त पाण्डुलिपियों की उपेक्षा कर दी। आज उसी प्रदेश ने उदित हिन्दी विद्वानों के लिए उक्त साहित्य में शोध कर सकने की असंख्य सम्भावनाएं उजागर हो गई हैं। केवल पंजाबी की गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी साहित्य में से ही असंख्य विषयों का चुनाव सम्भव है, ऐसी ही स्थिति गुजरात तथा आन्ध्र की है जहाँ गुजराती तथा फारसी लिपियों में लिखित हिन्दी पाण्डुलिपियां मौजूद हैं परम्परायुक्त पाण्डुलिपियों का अध्ययन एक साथ सम्भव है—यथा शतक, सतसइयां मंगल-काव्य, कृष्ण-काव्य, राम-काव्य, गुरु-काव्य, भक्त-काव्य, वीर-काव्य, रीति-काव्य,

लक्षण-काव्य आदि। बडी पाण्डुलिपियो का सम्पादन शोध-विषय बन सकते है, एक-एक पाण्डुलिपि का अलग अध्ययन सम्भव है, ऐतिहासिक पाण्डुलिपियो पर आश्रित तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक या ऐतिहासिक स्थिति का स्वरूप निश्चित किया जा सकता है, उक्त पाण्डुलिपियो का अध्ययन किसी समानान्तर प्रकाशित हिन्दी रचना की तुलना मे किया जा सकता है, आदि आदि। तात्पर्य यह है कि हिन्दीतर लिपियो में उपलब्ध साहित्य शोधार्थ एक सम्पन्न क्षेत्र है, शोधार्थियो को इधर ध्यान देना एव उपलब्ध सम्भावनाओ से लाभान्वित होना चाहिए।

(ङ) प्राचीन एव मध्यकालीन उपेक्षित साहित्य—पचासोत्तरी वर्षो मे अधिकतर शोधार्थी आधुनिक साहित्य के अन्वेषी बनने लगे, प्राचीन तथा मध्यकाल के साहित्य की निरन्तर उपेक्षा होने लगी। उक्त उपेक्षित साहित्य म शोध-विषयो की महती सम्भावनाएँ आज भी मौजूद हैं—नाथ, सिद्ध तथा जैन साहित्य तो लगभग अछूने ही पडे हैं, आदिकाल तथा रीतिकाल पर उपलब्ध शोध-प्रबन्ध अ गुलियो पर गिने जा सकने योग्य हैं। रीतिकाल मे रीतीतर प्रवृत्तियो के अध्ययन की अपेक्षा है, आदिकाल मे चारण-काव्य मे इतर साहित्य को जानना आवश्यक है, परवर्ती साहित्य पर विद्यापति के प्रभाव की जाच करना अभी शेष है। अभिप्राय यह कि शोध-सम्भावनाओ की खोज मे अनुसधित्सुओ को आधुनिक काल स आगे देखना होगा, शोध विषयो की विपुल मात्र उपलब्ध हो सकेगी।

(च) सौंदर्यशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, सास्कृतिक, समाजशास्त्रीय, शैली वैज्ञानिक आदि—शोध के उक्त वैज्ञानिक एव शास्त्रीय पक्ष भी अभी शोधार्थियो को पर्याप्त अवसर प्रदान कर सकते है। साहित्य सम्बन्धी लालित्य भावी या सौंदर्य-शास्त्रीय अध्ययन पर केवल दो-तीन ही शोध-प्रबन्ध लिखे गए हैं। सास्कृतिक अध्ययन करने का ध्यान अब हुआ है, समाजशास्त्रीय कार्य को तो अनुसधित्सुओ ने कथासाहित्य से ही बाध दिया है। मनोविज्ञानिक अध्ययन तो किए जाते हैं, किन्तु सही अर्थों मे उन्हे वैज्ञानिक नही मनोविकारात्मक कहा जा सकता है। अभिप्राय यह कि उपर्युक्त अन्तर्-अनुशासित क्षेत्रो मे शोधार्थ अभी पर्याप्त अवकाश है। सास्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक चेतना का उदघाटन करने वाले साहित्य का इन्ही मूल आधारो पर अध्ययन करना एक उपलब्धि बन सकती है—किन्तु पीछे कही गई अर्हताओ से विमुख नहीं हुआ जा सकता।

(छ) साहित्येतिहास सम्बन्धी शोध—बहुत वर्ष पूर्व उपलब्ध और ज्ञात ज्ञान के आधार पर श्री रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास लिखा था। स्वाभाविक ही था कि उस युग मे साधनो का अभाव होने के कारण आचार्य शुक्ल कोई महत्त्वपूर्ण दस्तावेज अथवा विशद साहित्यिक सामग्री एकत्रित नही कर सके। उन्हें अपने सकलन से ही सतुष्ट होना पडा। किन्तु आज अनेक नवीन शोध-कार्यों के आलोक मे हिन्दी साहित्येतिहास का पुनर्लेखन अनिवार्य दिखने लगा है। इतिहास को

दोबारा लिखना, यद्यपि आज की तनावपूर्ण स्थिति मे कठिन है, किन्तु आज धीरे-धीरे साहित्य के अनेक अज्ञात अ शो पर जो शोध हो रहा है, उसकी अवहेलना नही हो सकती। इतिहास पर अनेक प्रश्न-चिन्ह लगाए जा रहे हैं, उसके काल-विभाजन की समस्या निरन्तर विद्वानो का सिरदर्द बनी है, सन्तो-सूफियो के पारस्परिक प्रभावो का निर्णय आज तक नही हो पाया, आधुनिक कविता की प्रत्येक धारा रूमानियत के विरोध का ढोल पीट रही है, किन्तु शायद कोई भी रूमानियत-मुक्त नही हो पाई—ऐसी समस्याओ का पुनर्मूल्याकन अपेक्षित है। मध्यकालीन साहित्य मे नवीन तथ्यो के उद्घाटित होने से उस अ श का तो इतिहास ही दोबारा लिखा जाना चाहिए।

उपर्युक्त पहलुओ मे अभी हिन्दी साहित्य सम्बन्धी शोध की विपुल सम्भावनाए स्पष्ट हैं। इनके अतिरिक्त भी ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमे शोध सम्भव है—यथा भाषा एव व्याकरणिक अ गों सम्बन्धी, लोक-साहित्य की अलग अलग विधाओ पर आधृत, कहावतो, पहेलियो तथा मुहावरो सम्बन्धी, भाषा-वैज्ञानिक कठिनाइयो और उपलब्धियो सम्बन्धी, लिपि- उद्गम-विकास एव महत्त्व सम्बन्धी। यह सही है कि इन क्षेत्रो मे कार्य करने के लिए शोधार्थी को अपने भीतर कुछ गुणो को अर्जित करना होता है। उक्त गुणो की चर्चा हम अगले खड मे करेंगे।

द्वितीय खण्ड

व्यावहारिक पक्ष

अध्याय 7

शोध के निमित्त

समवायी तथा असमवायी कारणों मे इतर कारणों को निमित्त कहते हैं, यथा घट के निमित्त चाक और कुम्हार दोनो हो सकते हैं। इन्हें निमित्त-हेतु या हेतु कहा जा सकता है। शोध-क्षेत्र मे अज्ञात या ज्ञात रूप में साहित्य पूर्व-विद्यमान होता है। कतिपय ऐसे तथ्य भी मौजूद होते हैं, जो परम्परित दिशाओं को बदलने मे समर्थ हो सकते हैं। यही सब साहित्यिक शोध की आधार सामग्री हैं। इस आधार सामग्री को शोध-माध्यम से रूपायित करने वाले निमित्त-हेतु शोध-कर्त्ता तथा शोधकार्य के निर्देशक, दोनो हो सकते हैं। यहा हमारा लक्ष्य इन्ही दोनो सुयोग्य विद्वानो के गुणों-लक्ष्यों की व्याख्या करना है।

(क) शोधार्थी

हिन्दी मे साहित्य शोध का कार्यभार उठाने वाले व्यक्ति प्राय सोचा करते हैं कि आठ दस पूर्व रचित पुस्तको से सामग्री सकलित कर यदि वे उसे अपनी भाषा में व्यक्त कर सकें, तो शोध उपाधि के लिए पर्याप्त होता होता है। किन्तु उनकी यह धारणा दूषित तो है ही, शोध की सीमा रेखाओं से भी परे की चीज है। वास्तव मे साहित्यिक शोध करने वाले अध्यवसायी छात्र के लिए कुछ महत्वपूर्ण गुणों को धारण करना अनिवार्य है। कोई भी शोधार्थी उनमे से किसी एक अथवा एकाधिक गुणों की उपेक्षा करके एक सफल शोधार्थी बन सकने का दावा नहीं कर सकता। इन गुणों मे सर्वप्रथम शोधार्थी के व्यक्तित्व सम्बन्धी गुण आते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का समूचा व्यवहार उसके व्यक्तित्व का निर्देशन करता है। इसीलिए जब हम व्यक्तित्व की बात करते हैं तो हमें उन उत्तमोत्तम व्यवहार कोटियों पर दृष्टिपात करना होता है, जो मनुष्य को सक्रिय रखने और उसकी प्रतिभाओं को उघाड़ने स सहायक होती है।।ऐसी व्यवहार-कोटियो मे शोधार्थी की रुचि, धैर्य, सन्तोष, परिश्रम, लग्न आदि तत्त्व सम्मिलित हैं।

रुचि शोधार्थी के विषय को निर्धारित करती है। यह सही है कि आज का भटका हुआ शोध छात्र जब विश्वविद्यालय के किसी विभागाध्यक्ष के पास आता है, तो सहज ही मे उससे कोई भी विषय देने की प्रार्थना कर बैठता है। स्पष्ट ही यह स्थिति उसके अनिर्णीत भविष्य की द्योतक होती है। वह अपने विषय से सामान्यत.

परिचित न होते हुए भी उस पर कार्य करने की स्वीकृति देता है। विश्वविद्यालय से पंजीकरण भी प्राप्त करता है और फिर जब कार्योन्मुख होता है, तो सिर धुनने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाता। प्रदत्त विषय में रुचि के अभाव में वह उपाधि के लोभ के कारण संलग्न तो रहता है, किन्तु शोध की किसी भी दिशा में निष्कर्ष तक नहीं पहुंच पाता। यदि उसका पंजीकृत विषय उसकी अपनी रुचि स्वभाव और मान्यताओं से सम्पृक्त हो तो कार्यपूर्ति से समय भी कम लगेगा, परिश्रम भी कम होगा और कार्य का स्तर भी ऊंचा रहेगा। बहुत सम्भव है कि लक्ष्योपलब्धि के लिए उसे चौर्यकला का आश्रय भी न लेना पड़े। विषय अपनी रुचि का हो तो सहज ही कार्य करने में मन लगता है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी मनुष्य का धैर्य नहीं डोलता और वह जूझने की शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि कर सकता है। अतः यह कहने में किसी भी विद्वान को सन्देह नहीं होगा कि शोधार्थी के लिए रुचि एक ऐसा व्यावहारिक गुण है, जिसके बिना किसी भी कार्य-क्षेत्र में कोई गति नहीं होती। शोधार्थी का व्यक्तित्व भी उसकी रुचि से उजागर होता है और उसके शोध-कार्य को देखकर सहज ही अपरिचित व्यक्ति भी उसके व्यक्तित्व का अनुमान कर सकता है। जिस विषय में उसे रुचि नहीं होगी, उस विषय पर शोध कर सकना तो न केवल दुःसाध्य कार्य है, बल्कि जीवन के अमूल्य क्षणों का व्यर्थ क्षरण भी है। यह आवश्यक नहीं कि निर्वाचित विषय सबके लिए रोचक हो, केवल शोधार्थी को उसमें अदम्य रुचि है तो वह एक सफल शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर सकने में समर्थ हो सकता है।

व्यक्तित्वगत गुणों में शोधार्थी का दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण धैर्य है। यदि शोधार्थी अधीरता से पीड़ित है, तो वह कभी भी साहित्यिक शोध करने के योग्य नहीं हो सकता। उसके सम्मुख समय की अपेक्षा कार्य का मूल्य अधिक होना चाहिए। व्यतीत होते समय को देखकर यदि वह घबराहट में शोध को बलात् किसी निष्कर्ष की ओर ले जाने का प्रयास करता है, तो विश्वास मानिये, उसकी यह चेष्टा अनैतिक होगी। धैर्य वह गुण है जो मनुष्य को परिश्रमी, अध्यवसायी और कार्य में रस लेने वाला बनाता है। यह ठीक है कि कभी-कभी विश्वविद्यालयों की ओर से लगायी गई कालावधि की सीमाओं में रह कर कार्य को निपटाना पड़ता है, किन्तु जो निश्चित समय विश्वविद्यालय की ओर से पारित होता है वह अपर्याप्त नहीं होता। यदि वह समय कम पड़े तो प्रत्येक विश्वविद्यालय में समय-विस्तार प्रदान करने के भी कुछ नियम मौजूद हैं, उन नियमों का सहारा लिया जा सकता है। धैर्य का यह अर्थ भी नहीं कि पंजीकरण प्राप्त करने के उपरान्त शोधार्थी तन्द्रावस्था में लीन हो जाए और दशाब्दों तक शोध कार्य को गले में ढोल की तरह लटकाए रखे। ऐसे शोधार्थी धैर्यवान नहीं होते, आलसी होते हैं। धैर्य मनुष्य के व्यक्तित्व की वह कोटि है जो उसे असफलताओं, कठिनाइयों, अविचारों के प्रति भी सजग रखती है और निरन्तर कार्य करने का उत्साह देती है। अतः धैर्यशील शोधार्थी कठिनाइयों से घबराकर न

तो अपने शोध विषय से विमुख होता है, न अपने निर्देशक के प्रति मनोमालिन्य पैदा करता है और न ही सामग्री की अनुपलब्धि की शिकायत करता है। वह सिंह की तरह सीधा तैरता है और विपरीत प्रवाह की उपेक्षा करते हुए, किनारे जा लगता है।

सन्तोष मानव व्यक्तित्व का एक असाधारण गुण है। तुलसी ने 'जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान' कहकर सन्तोष का वास्तविक मूल्यांकन किया है। शोधार्थी में सन्तोष का अभिप्राय उपलब्ध सामग्री के प्रति पर्याप्तता का दृष्टिकोण नहीं होना, वह निरन्तर अध्यवसायी होने के कारण खोज के पथ पर असन्तुष्ट रह सकता है, किन्तु जब वह निराशा, हतोत्साह आदि से निष्क्रिय नहीं होता और अपने कार्य के प्रति उत्साह पूर्वक मलग्नता प्रदर्शित करता है और जितना उसने पा लिया है उसके प्रति निरन्तर प्रफुल्ल बना रहता है, तभी उसमें सन्तोष का गुण माना जा सकता है। प्रायः देखा गया है कि शोधार्थी अपनी सामग्री की खोज में निरुत्साहित हो जाते हैं, दस में से छः वस्तुओं को प्राप्त कर लेने वाला विद्यार्थी, शेष चार के प्रति निराश हो जाता है। शोध-क्षेत्र में यह उसका असन्तोष कहा जायेगा। उसे जहाँ शेष चार को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए, वहाँ उपलब्ध छः के प्रति उसे सन्तुष्ट भी होना चाहिए। इस दिशा में सन्तोष के अभाव में बहुत सम्भव है कि वह अधीर हो उठे और अपने शोध-कार्य को अनुचित विधियों से ही निपटा देने का सुयोग ढूंढने लगे। तात्पर्य यह कि शोधार्थी के व्यक्तित्व में जहाँ विषय के प्रति रुचि और कालावधि के प्रति धैर्य की अपेक्षा है, वहाँ सामग्री संकलन में सन्तोष अत्यावश्यक है।

शोधार्थी के लिए परिश्रम और लगन-दोनों ऐसे गुण हैं, जिनके बिना रचनात्मक तथ्यों की खोज और उन तथ्यों का व्याख्यान लगभग असम्भव हो जाता है। यह सही है कि वर्तमान काल में अनुसंधित्सु प्रायः टेबल वर्क (Table-work) पसन्द करते हैं। किन्तु टेबल पर संकलित सामग्री भी लगन और परिश्रम से ही आकलित और मूल्यांकित की जा सकती है। सामग्री के अनुशीलन, विश्लेषण और परीक्षण के लिए भी परिश्रम अपेक्षित है। सच तो यह है कि अध्यवसाय ही शोधार्थी को इस योग्य बना सकता है कि वह एक उच्चस्तरीय शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर सके। विभाजित मानसिकता लगन की शत्रु है। यदि मनुष्य को किसी भी कार्य में दीर्घजीवी और प्रभावी भूमिका निभानी हो तो उसे लगनपूर्वक उसी कार्य में अपने आपको होम कर देना होता है। ऐसा करने में उसकी उन महत्त्वपूर्ण अर्हताओं का उद्घाटन होता है, जो सामान्य स्थिति में लगभग अदृश्य या अपरिपक्व रह जाती हैं। तात्पर्य यह कि सफल शोधार्थी में उसका समूचा व्यक्तित्व इस योग्य होना चाहिए कि वह इच्छा, कर्म और ज्ञान तीनों कोटियों को अपने शोध विषय पर केन्द्रित कर सके। जो शोधार्थी विभाजित रुचि या अव्यवस्थित कार्यान्वयन का शिकार हो जाते हैं, वे कदापि शोध कार्य में सफल नहीं हो पाते।

व्यक्तिपरक गुणो के अतिरिक्त शोधार्थी मे कुछ व्यावहारिक गुणों का होना भी अनिवार्य है। इस दिशा मे सर्वप्रथम गुण है शोधार्थी का हँसमुख होना। शोधार्थी को अपने निर्देशक, पुस्तकालयाध्यक्ष, अपरिचित विद्वानो, सगोष्ठियों, सभाओं, पत्र-पत्रिकाओं के व्यवस्थापको आदि से बराबर काम निकालना होता है। माथे पर त्योरियाँ लेकर किसी से भी की गई बातचीत चलती नही होती, किसी के पास इतना अवकाश नही कि वह शोधार्थी की जाच पडताल मे माथा पच्ची करे। यह तो अनुसधाता हँसमुख व्यवहार है, जो अपरिचितो को भी अपना बना सकता है, और यह उसी का परिणाम है कि लोग उसकी बात धैर्य से सुनते तथा उसकी समस्याओं के समाधान मे सहायक होते है। हँसमुख तथा प्रसन्न-चित रहने का एक बडा लाभ यह भी होता है कि मनुष्य निपट अनजान वातावरण मे भी तिरस्कृत नही होता, असमय के आतिथ्य मे भी नही खलता और अत्यत व्यस्तता मे भी दूसरे से कुछ समय प्राप्त कर लेने म सफल हो जाता है। शोध कर्त्ता की स्थिति दूसरो से लाभ उठाने तथा अपना स्वार्थ निकालने की होती है, आज के व्यस्त जीवन म भला कौन परार्थ कार्यरत होता है। ऐसे मे शोधार्थी की हसमुखी प्रवृत्ति उसकी सहयोगिनी बनती है और वह लक्ष्य म सफल हो जाता है।

शोधार्थी के व्यवहार मे सयम एक उच्च कोटि की उपलब्धि होती है। सयमित शोधार्थी बदमिजाजी से बचा रहता है, जिसके परिणामस्वरूप उसे प्राय' विपरीत परिस्थितियों से मुक्ति मिली रहती है। सयम का गुण उसे न केवल सामग्री सकलन एव अपरिचित विद्वानो से ज्ञान-प्राप्ति म सहायक होता है, बल्कि इसके आश्रय वह निराश और हतोत्साहित परिस्थितियो मे भी सम्भला रह सकता है। शोधार्थी को इस गुण का प्रदर्शन अनेक क्षेत्रो मे करना पडता है—व्यवहार, बातचीत, वक्तव्य, आलेखन आदि क्षेत्रो मे सयम दरकार होता है। अपने से प्रवर या अवर व्यक्तियो, प्रतिभाशाली लेखको, चिन्तको और विद्वानो, आदरणीय नेताओ और देश-रत्न विभूतियो से मिलते हुए उसके व्यवहार का सयम ही उसकी योग्यता का प्रमाण-पत्र बन सकता है। किसी विद्वान से साक्षात्कार करते अथवा अपनी किसी कठिनाई का समाधान खोजते हुए शोधार्थी का व्यवहारिक सयम ही उसका पथ-प्रदर्शक होता है। बातचीत मे सयत रहना अधिक जरूरी है। अत्यधिक बातूनीपन उसे दूसरो के सम्मुख तिरस्कृत करवा सकता है। बिना सोचे-समझे ऊट-पटाग बोल देना, जिव्हा को असयत चलने देना किसी भी शोधार्थी के कार्य का हनन कर सकते हैं। वक्तव्य का सयत होना भी अपेक्षित है। शोध मे सलग्न किसी भी व्यक्ति को अपने से पूर्व किसी भी विद्वान के कथनो की आलोचना करनी पड सकती है, किन्तु ऐसे मे शोधार्थी का कर्तव्य है कि वह सयत और मर्यादित भाषा मे आलोचना करे। उसके ऐसा न करने से वह कुछ विद्वानो की अप्रसन्नता अर्जित कर सकता है, किसी के रोष का कारण हो सकता है और अपने अध्ययन क्षेत्र मे ही विरोधियो का लक्ष्य बन सकता है। शोधार्थी

को इस स्थिति से सदैव सावधान रहते हुए वक्तव्य देना चाहिए। सयम का अन्तिम क्षेत्र है आलेखन। शोधार्थी होने के नाते वह अपनी खोज-रपटों, अनुसधान परक पत्रो-लेखो मे सतर्क अपनी बात कहता रह सकता है। तर्क देते समय सयत शोधार्थी किसी पर कीचड नही उछालता, व्यग्य नही कसता, किसी को परेशानी भरी स्थिति में डालता। यदि, वह इस ओर सही तौर पर ध्यान नही देता, तो अतन्त उसका शोध-कार्य विपरीत परिस्थितियो तथा प्रतिरोधी स्वर का शिकार हो सकता हैं।

व्यवहार के ही क्षेत्र मे शोधार्थी को उच्च आचरण का पालन करते हुए अपनी योग्य-अयोग्य परिस्थितियो से जूझ सकने की क्षमता अर्जित करनी होती है। उक्त क्षमता से वचित शोधार्थी कदाचित् कार्य पूर्ति से पूर्व ही किसी कदम पर पराजय स्वीकार कर लेगा और उसके अनुसधान के सपने अधूरे ही रह जायगे। विजेता बनने के लिए परिस्थितियो को निभाने का विशिष्ट प्रशिक्षण उसे ग्रहण करना चाहिए, धैर्य-पूर्वक उस योग्यता का फल प्राप्त कर विपरीत परिस्थितियो को भी बदलने का प्रयास करना चाहिए।

परिस्थितियो से जूझने के लिए तथा सफलता पूर्वक शोध-कार्य मे व्यस्त रहने के लिए शारीरिक स्वास्थ्य भी आवश्यक है। कहते हैं स्वस्थ शरीर मे मन-मस्तिष्क भी स्वस्थ रहता है, इसलिए शोधार्थी को स्वस्थ चित्त, स्वस्थ शरीर अपने आप को सचेतन रखना होता है। अस्वस्थ शरीर मे लगन, धैर्य और परिश्रम आदि गुण नही रह सकते। अस्वस्थ रह कर मनुष्य शोध की भाग-दौड और अतिरिक्त अध्ययन करने मे असमर्थ होता है इसी कारण उसमे सफल शोधार्थी बनने के लिए स्वास्थ्य की अतिरिक्त अपेक्षा की जाती है।

व्यक्तित्व एव व्यवहारगत लक्षणो के उपरात शोधार्थी म योग्यता, प्रतिभा, सूझ और चिन्तन की शक्तियो की विशिष्ट माग है। शोधार्थी प्राय. दो प्रकार के होते हैं—एक वे, जो सोपाधि शोध करते हैं, दूसरे वे जो निरुपाधि कार्य मे मग्न रहते हैं। सोपाधि कार्य करने वालो की कम से कम योग्यता विश्वविद्यालय की एम ए उपाधि होनी है। वे उच्च कम से कम मध्य, श्रेणी मे एम ए उत्तीर्ण करने के पश्चात् शोध–छात्र के रूप मे पजीकरण प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह कि एम ए तक की परीक्षा देन तक की परीक्षा देने तक वे साहित्य सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञानार्जित कर लेते हैं। इनकी योग्यता निश्चित होती है। निरुपाधि शोध करने वाले अध्यवसायी होते हैं। बहुधा उनके पास विश्वविद्यालय की कोई उच्च उपाधि नही होती। वे अपने परिश्रम और लग्न से ही वह योग्यता प्राप्त करते हैं, जिसकी लब्धि सोपाधि शोधार्थी को एम ए परीक्षा के लिए सिर-तोड़ मेहनत के उपरांत होनी है। किन्तु निरुपाधि शोध के लिए भले ही पुस्तकीय योग्यता निश्चित नही है, तथापि उक्त प्रकार के शोधार्थी का सामान्य ज्ञान सम्भवत एम ए परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने वाले छात्र से

कहीं अधिक होता है । इसी योग्यता को विद्वानो ने अनुसधाता के गुणो मे विशेष स्थान दिया है । योग्यता के भी अनेक स्तर हो सकते हैं । (क) विषय का पृष्ठभूमि *जन्य ज्ञान—सामान्यत शोधार्थी कितना भी योग्य क्यो न हो, अपने पजीकृत विषय* मे उसकी तब तक कि वह उसकी समूची पृष्ठभूमि को भलीभाति पहचान नही लेता । 'तुलसी साहित्य का अप्रस्तुत विधान पर' शोध करने वाले के लिए तुलसी के समूचे साहित्य एव अलकार सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि की जानकारी अनिवार्य है । यदि उसके पास उक्त ज्ञान का अभाव है, तो निश्चित ही वह शोध-कार्य मे सलग्न होकर भी कोई उपयुक्त निष्कर्ष नही निकाल सकता । पृष्ठभूमिजन्य ज्ञान प्राय विस्तृत होता है—साहित्य के किसी भी पहलू पर अनुसधान करते हुए साहित्ये-तिहास का सर्वांगीण परिचय पृष्ठभूमि ही कहलाता है । तथ्य के उद्गम विकास एव सम्प्रति स्थिति का समूचा इतिहास पार्श्व ज्ञान का ही अ श है । ध्यान रहे कि योग्य शोधार्थी तब तक किसी भी विषय मे हाथ नही डालता, जब तक कि उसे विषय की पृष्ठभूमि का समुचित ज्ञान नही होता । (ख) तीखी सूझ (Sharpuess)—शोधार्थी की योग्यता का सही मानदण्ड उसकी सूझ का तीखापन है । किसी भी रचना को पढने, विद्वानो से साक्षात्कार करने, भाषणो, प्रवचनो और शोध पत्रो को सुनने के साथ ही यदि अनुसधाता उसे समझने मे समर्थ है, तो वह योग्य होने के साथ-साथ प्रखर बुद्धि भी कहलाएगा, अन्यथा लिखित परीक्षा पत्रो मे श्रेष्ठतर श्रेणी मे उत्तीर्ण होकर वह योग्य तो कहला सकता है किन्तु सम्भवत उसे प्रखर नही कहा जा सकेगा (ग) पूर्वाग्रह-हीनता—शोधार्थी को पूर्वाग्रहो से मुक्त रहकर अनुसधान कार्य करना चाहिए । किसी लेखक, रचना अथवा प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे यदि उसम कोई भी पूर्वाग्रह है, तो वह उसका सही अनुशीलन नही कर सकेगा । निष्पक्षता समीक्षक का मूल गुण है, इसलिए अनुसधाता जब समीक्षक की भूमिका निभा रहा होता है, तो उसे समग्र पूर्वाग्रहो को छोड कर अपनी राह बनानी पडती है । (घ) वैज्ञानिक दृष्टिकोण—शोधार्थी का दृष्टिकोण वैज्ञानिक होता है । तात्पर्य यह कि सफल शोधार्थी जिज्ञासाओ के शमन के लिए आपात कथनो और मिथिहासो पर आश्रित न रहकर तर्काधारित निष्कर्ष ढूँढता और वैज्ञानिक विधियो के अनुसार उन निष्कर्षों की परख करता है । वह इधर-उधर सुनी सुनाई वातो मे विश्वास नही करता, वह प्रत्येक तथ्य को उसकी प्रामाणिकता के सहारे जाचता परखता और स्वय अपना मार्ग प्रशस्त करता है । (ड) चिर-जिज्ञासु—शोधार्थी नित्य नवीन ज्ञान का पिपासु होता है । अपने विषय के सम्बन्ध मे समीचीन सामग्री सकलित कर लेने एव उच्च कोटि के तथ्यों का समुचित आख्यात तैयार कर लेने पर भी वह जिज्ञासा-कपाट बद नही करता । निरन्तर नवीन तथ्यो की जानकारी के लिए प्रयत्नशील रहना उसकी प्रकृति होती है ।

(ख) निर्देशक :

शोध के निमित्त की दृष्टि से दूसरा पक्ष निर्देशक का है । निर्देशक वह विद्वान्

होता है, जो शोधार्थी को शैक्षिक स्तर पर कार्य में सहयोग देता और उसकी समस्याओं का समाधान खोजता है। निर्देशक का कार्य रास्ता बताने का होता है, शोधार्थी की अंगुली पकड़ कर उसके साथ उस मार्ग पर चलने का नहीं। चलना शोधक को अकेले ही होता है, और इसके लिए मार्ग की जानकारी मात्र निर्देशक से प्राप्त की जा सकती है।

विश्वविद्यालयों या महाविद्यालयों के वे प्राध्यापक जिनके पास शोधोपाधि होती है, जो स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ाते है, या स्वतंत्र लेखन-चिन्तन करने वाले वे लोग, *जिन्होंने साहित्य के किसी क्षेत्र-विशेष में निष्णातता प्राप्त की है*, निर्देशक बन सकते हैं। निर्देशक-नियुक्ति के लिए विश्वविद्यालयों के कुछ निश्चित नियम होते हैं। एक समय वे कितने शोधार्थियों का निर्देशन कर सकते हैं, इसका निर्णय भी विश्वविद्यालयीन अधिकारियों द्वारा लिया जाता है। उन्हीं नियमों के अन्तर्गत निर्देशक की नियुक्ति होनी चाहिए। कोई भी निर्देशक साहित्य के किसी भी क्षेत्र में शोध करवा सकने में सक्षम नहीं होता। अलग-अलग व्यक्तियों का साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों पर अधिकार हो सकता है, इसलिए केवल अधिकारी विद्वान को ही विषयानुकूल निर्देशन का कार्य-भार सौंपा जाना चाहिए। प्रायः विभागों में विद्यार्थियों के चुनाव अथवा अध्यापक की इच्छा पर यह कार्य छोड़ दिया जाता है, किन्तु यह प्रणाली दूषित है। हमारे मतानुसार शोधार्थी को शोध-विषय के चुनाव का अधिकार होना चाहिए, शोध-निर्देशक के चुनाव का नहीं। उपरांत उसके विषय के अनुसार किसी अधिकारी विद्वान की नियुक्ति विश्वविद्यालयीन शोध समिति की ओर से निर्देशक के रूप में की जानी चाहिए। उक्त समूची प्रक्रिया पूर्ण हो जाने पर शोधक और निर्देशक मिल-बैठकर अपने शोध-कार्य की रूपरेखा तैयार करें और एक-दूसरे के प्रति आत्मीय स्वीकृति से विषयानुसंधान में जुट जायें—यही उचित है।

हाँ, यहाँ निर्देशक तथा शोधक की कतिपय सुविधाओं का ध्यान रखा जा सकता है। निर्देशक जितना कार्यभार सुगमतापूर्वक उठा सकता है, उतना ही बोझ उस पर डाला जाय, अन्यथा कार्य में कोता ही होगी और विषय-शोध में प्रतिरोध आ जायगा। शोधक के निर्देशक से मिल सकने की सुविधा भी देखी जानी चाहिए। दोनों में भले कितनी दूरी हो, तथापि एक नियत अन्तराल पर उन्हें परस्पर मिलते तो रहना ही चाहिए। यदि निर्देशक अत्यन्त व्यस्त विद्वान् होंगे, तो वे अपने शोधार्थी से महीनों नहीं मिल सकेंगे। परिणामतः कार्य-गति धीमी होते-होते स्थिरता की स्थिति पर आ जायगी। हम ऐसे ही एक व्यस्त सज्जन को जानते हैं, जिनके निर्देशन में कार्य करने वाले एक शोधार्थी को पांच वर्षोपरान्त विश्वविद्यालय से निर्देशक बदलने की प्रार्थना करनी पड़ी। कारण यह था कि निर्देशक महोदय पांच वर्ष तक शोधार्थी का प्रथम अध्याय भी देख सकने का समय नहीं निकाल पाए थे। ऐसा प्रायः तब होता है, जब शोधार्थी किसी विद्वान् के नामाकर्षण में बंधे उसी के साथ पंजीकृत

होने की हठ कर बैठते है, या विश्वविद्यालय विद्वानो के साथ सम्बद्ध शोधार्थियो की सख्श निश्चिन नही कर देना। सुविधा के संदर्भ म हम अस्वस्थता, रुग्णता अथवा पारिवारिक कठिनाइया की उपेक्षा नही कर सकते। और यह स्थिति शोधक या निर्देशक किसी के भी मार्ग की बाधा हो सकती है। उक्त कठिनाइयां यदि दीर्घकालीन हो तो निर्देशक को स्वय विश्वविद्यालय से निर्देशन मुक्ति की प्रार्थना कर देनी चाहिए। यदि शोधार्थी ऐसी कठिनाई का शिकार हो तो उस शोध का हठ महगा पड सकता है—सुझाव यह है कि उसे शोध-कार्य स्थगित कर देना चाहिए।

निर्देशक को नियुक्ति के समय जहां उसकी सुविधा का ध्यान रखना अपेक्षित है, वहां उसकी क्षमता का नाप तोल भी जरूरी है। किसी व्यक्ति की क्षमता अपरिमित नहीं होती। इसका निर्णय निर्देशक के निजी कार्य-क्षेत्र और अध्ययन-अध्यापन, प्रकाशन तथा साहित्यिक रूचियो को सम्मुख रखकर किया जा सकता है। शोध-विषय को जांचे-परखे बिना शोधको की भीड किसी के साथ सम्बद्ध कर देने से अनुसधान मे बाधा पडने की सम्भावना अधिक रह सकती है। उत्तम तो यह होगा कि प्रत्येक निर्देशक की विशेष विषय-क्षमता को सम्मुख रखने हुए ही उसके सग शोधको को सम्बद्ध किया जाय। यह आवश्यक नही कि हम उनका अपना शोध-विषय ही देखें, उनकी परिवर्तित रुचिया अलग भी हो सकती हैं। मेरे एक सहयोगी मित्र का अपना शोध प्रबन्ध सूर-साहित्य के सौदर्य शास्त्रीय अध्ययन से सम्बन्धित है किन्तु परिवर्तित रुचि की दृष्टि से समसामयिक कथा साहित्य एव समकालीन काव्य मे उनकी अधिक गति है। वे सफलता पूर्वक इस कोटि के विषयो का निर्देशन कर रहे हैं। इसी प्रकार किसी की क्षमता शोधोपाधि से बढती घटती नही। शोधोपाधि तो प्रक्रिया की सूझ के लिए होती है—जिन विद्वानों ने अध्ययन, अनुभव एव अन्तर्दृष्टि से न केवल उस प्रक्रिया को ही जान लिया है, बल्कि कुछ साहित्यिक क्षेत्रों मे निष्णातता प्राप्त कर ली है, वे अपने विषय-क्षेत्र मे किसी का भी निर्देशन कर सकने मे समर्थ होते हैं। गुजरात के श्री के के शास्त्री एव बलिया के श्री परशुराम चतुर्वेदी के नाम इस दिशा मे विशेष स्मरणीय हैं—दोनो के पास कोई शोधोपाधि नहीं, किन्तु दोनो अपने अपने विषय क्षेत्रो के पारगत पण्डित हैं। स्पष्ट है कि क्षमता से हमारा अभिप्राय निर्देशक की उपाधियो से नही, बल्कि विषय-क्षेत्र मे उसकी विशिष्ट योग्यता से है।

अतीत व्यस्त निर्देशक बहुधा न्यूनतम सहायक होते हैं। डॉ सरनामसिंह शर्मा का विचार है कि प्राय व्यक्ति का नाम-गौरव शोधार्थियो की भीड उसके गिर्द एकत्रित कर देता है। किन्तु इतना ही बस नही, हमारे मतानुसार निर्देशक का पदाधिकार, उसका सौजन्य, स्नेह और औदार्य, शोधक के प्रति सहानुभूति और दिलचस्पी आदि तथ्य भी शोधार्थियो को निर्देशक की ओर आकृष्ट करते हैं। अनेकधा ऐसा भी देखा गया है कि शोध-विषय मे गति न होने पर जब निर्देशक

अपनी अक्षमता प्रकट करता है, तो भी शोधार्थी उसके उक्त गुणो के कारण उसका सग छोडने को तत्पर नही होत । तथापि निर्देशक के पास कितना अवकाश है, वह अपने अवकाश के क्षणो को आपके साथ बाटने को तैयार है या नही, निर्देशन-चर्चा को वह बोझ मानता है या सुखद विश्राम, अवकाश के समय वह घर पर शोधको का आना पसन्द करता है या नही, ये सभी ऐसे प्रश्न-चिह्न हैं, जिनका समाधान निर्देशक-नियुक्ति मे पूर्व विचार लिया जाना चाहिए । अमुक शोधार्थी का निर्देशन किसी भी निर्देशक को सौंपने से पूर्व उसकी रुचि को भी जान लेना उत्तम होगा । आजकल विश्वविद्यालयो ने शोध-उपाधि के लिए पजीकरण के आवेदन-पत्र मे ही एक कालम ऐसा प्रस्तुत कर दिया है, जिसमे निर्देशक की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है । ऐसा करने मे निर्देशक की विषय सम्बन्धी रुचि का प्रमाण-पत्र हमारे सम्मुख आ जाता है और हम बेधडक निर्देशक की रुचि के अनुसार उसे कार्य सौप सकते हैं । यह रुचि विषय तथा शोधार्थी दोनो के सम्बन्ध मे हो सकती है । जिस विषय या व्यक्ति के प्रति निर्देशक का मोह नही होगा अथवा जिस शोधार्थी की शोध विषयक दूषित प्रवृत्ति से वह परिचित होगा उसे वह निर्देशन स्वीकृति नही देगा । इस प्रकार निर्देशन की क्षमता और रुचि दोनो का सहज निर्णय सम्भव हो सकेगा ।

पीछे हम शोध कर्त्ता के गुण लक्षणों की चर्चा कर चुके हैं । निर्देशक के गुणो-लक्षणो को जानने के लिए हम पुन उन्हे व्यक्तित्व-परक, व्यवहार-परक तथा योग्यता-परक इन तीन कोटियो मे विभाजित कर सकते हैं ।

व्यक्तित्व-परक गुण—शोधार्थी की ही तरह निर्देशक म भी धैर्य का गुण सर्वोपरि होना चाहिए । एक सर्वमान्य धारणा है कि जब तक धैर्य पूर्वक किसी कार्य मे सलग्न न हुआ जाय, तब तक कार्य मे सफलता का प्रश्न ही नही उठता 'धैर्यवान लभन्ते फलम्' के अनुसार जब तक निर्देशक और शोधार्थी दोनो धैर्य का दामन थाम कर कर्म क्षेत्र मे अवतरित नही होते, तब तक शोध विषय मे किसी सम्पन्न निष्कर्ष की सम्भावना नही हो सकती । अधीर निर्देशक शोधक का पथ-रोधक होता है, पथ-प्रदर्शक नही । अनुसन्धान का कार्य बडे ही शान्त और सहज वातावरण मे धीरे-धीरे प्रगति करता है । यदि हम किसी धीमी गति से चलने वाले जीव को अपने पीछे बांध कर तीव्रता से दौडना आरम्भ कर दे तो सहज ही खिच कर वह मर जायेगा । उपयुक्त यही होगा कि हम कि हम उसे सरक्षण दे और उसकी गति पर चलते हुए, उसे आगे बढने का उत्साह निरन्तर देते रहे । निर्देशक के लिए स्वय ही धैर्यवान होना पर्याप्त नही । उसे अपने शोधार्थी को भी गति देने के लिए नित्य धैर्य बधाना पडता है । ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब शोधार्थी आन्तरिक अथवा बाह्य कठिनाइयों से आकुल होकर शोध-क्षेत्र से विचलित हो उठता है । ऐसी स्थिति मे निर्देशक ही ऐसा कर्णधार है जो उसे न केवल डूबने से बचाता है बल्कि एक एसी सुखद सान्त्वना

प्रदान करता है कि वह एक बार पुन अपनी शुरित-शक्तियो को एकत्रित कर, शोध कार्य मे लल्लीन हो जाता है। धैर्य का यह पहलू अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक बार जब शोधक किसी निर्देशक के साथ सम्बद्ध हो जाता है, तो दोनो के लिए एक दूसरे का सहयोग अपेक्षित होता है। अधीरता सम्बन्ध भग तो करती ही है साथ ही शोध विषय के सुचारू परिशीलन की हत्या कर देती है। एतदर्थ हमारा मत है कि निर्देशक को जीवन के प्रत्येक पहलू म स्वय धैर्य का प्रतीक बनकर चलना चाहिए, केवल तभी वह अपने सग कार्य करने वाले शोधार्थियो का व्यावहारिक पथ प्रदर्शन कर सकता है। इससे उसके व्यक्तित्व म एक ऐसा आलोक पैदा होता है जो उसके शोधको को अन्धेरे की भटकन से सुरक्षित करता है।

निर्देशक के व्यक्तित्व दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण-विश्वास है। निर्देशक को अपनी क्षमता, योग्यता और सहृदयता पर इतना विश्वास होना चाहिए कि वह चयित विषय के भीतरी बाहरी पहलुओं को एक ही पल मे मूल्याकित कर सकें और विषय को स्वीकार करते हुए उसके साथ न्याय कर सकने की सही दिशा को तभी से धारण कर सकें। *अपने अतिरिक्त निर्देशक को भी अपने शोधक मे भी विश्वास होना चाहिए। शोधक की दुर्बलताओं, अभावों को जानते परखते हुए भी निर्देशक को उसकी योग्यता* तथा कार्य पूर्ति की सुदृढ सम्भावना मे विश्वास करना चाहिए। समय-समय पर शोधक मे अपने इस विश्वास को निर्देशक व्यक्त भी करता रह सकता है। ऐसा करने से शोधक का डगमगाया मन पुन' स्थिर होकर कार्य मे लीन हो सकता है। विषय सम्बन्धी शोध में विश्वास इसका तीसरा पहलू है। यह सम्भव नही कि निर्देशक विषय मे विश्वास किए बिना ही उस पर कुछ विश्वसनीय निष्कर्षों को निकालने मे सहायक हो सके। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि विषय, शोधक और निर्देशक का यह त्रिकोण विश्वास के गुण से रहित होकर किसी भी पहलू का सन्धान नही कर सकता, जीवन मे विद्या-क्षेत्र ही एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें विश्वास, धैर्य और आस्था जैसे गुणों को धारण किए बिना किसी की गति सम्भव नहीं। शोधक को निर्देशक मे, निर्देशक को शोधक मे, दोनो को विषय की सम्भावनाओ में तथा अपनी क्षमता और परिश्रम मे जब तक विश्वास नहीं होगा, वे कोई भी शिक्षा-स्तरीय निष्कर्ष लाभ नहीं कर सकते।

प्राय देखा जाता है कि कुछ निर्देशक अपने शोधकों को विषय क्षेत्र मे हतोत्साहित करते रहते हैं। ऐसे निर्देशक प्राय शोधको की कार्य-पूर्ति नही करवा पाते, उन्हें मार्ग में छोड देते हैं या वे स्वय निर्देशक के उत्साह रहित कथनो से हताश होकर शोध-विषय से विचलित हो उठते हैं। विश्वास-विहीन ऐसे निर्देशक उस जलयान की तरह होते हैं, जिनके तल मे छिद्र हो, उन्हे स्वय तो डूबना ही होता है, अपने मे सवार होने वाले अन्य सबको भी ले डूबते हैं। हमारा सुझाव है कि विश्व-विद्यालयों के नियमो मे ही कुछ ऐसा सशोधन किया जाना चाहिए कि उक्त कोटि के

विद्वानो को शोधको का भविष्य अन्धकारमय करने का अवकाश न दिया जाए। शोधक भी यदि कार्य के प्रति अन्यमनस्क हो तो उसे भी शोध क्षेत्र से हट जाना ही उपयुक्त होगा।

व्यवहार-परक लक्षण—निर्देशक हो या शोधक, कोई भी सब विषयों का ज्ञाता नही होता। *यही कारण है कि निर्देशक की नियुक्ति के समय हमे ध्यान रखना* होता है कि वह प्रस्तावित शोध विषय का ज्ञाता व पारखी हो। ऐसा न होने पर हम उसे निर्देशक-पद के लिए अयोग्य ठहरा सकते हैं। उसे शोधक को प्रस्तावित विषय से सम्बन्धित पुस्तको को पढने का सुझाव देना होता है शोधक के सम्मुख उठने वाले प्रश्नो का हल करने में उसकी सहायता करनी होनी है, सामग्री सकलन के स्रोतो, की खोज करना और सुझाव देना होता है तथा सकलित सामग्री की सहायता से सही क्रम में आलेख तैयार करने का मार्ग बताना होता है। इन सबके लिए उसका प्रस्तावित विषय मे निजी परिचय अनिवार्य है। यही कारण है कि जिस विषय पर शोधक को कार्य करना होता है, उसी विषय के प्रवीण पडित को उसका निर्देशक नियुक्त किया जाता है। ऐसा न होने की दशा मे निर्देशक सही निर्देशन देने मे असमर्थ होता है। व्यावहारिकता की माग है कि इस स्थिति मे निर्देशक लज्जा अथवा किसी अन्य भाव से परिचालित होकर अपनी अज्ञता को छिपाए नही। सम्बद्ध शोधक से स्पष्ट शब्दों मे अपनी असमर्थता बता दे, ताकि शोधक नियमत निर्देशक के साथ बन्धा रह कर भी उस पर निर्भर न करता रहे और अपने श्रम तथा अन्य सहयोगी विद्वानो की सहायता से यथा-समय कार्य-सम्पन्न करने मे सफल हो सकें। निर्देशक के एसा करने से वह शोधक की दृष्टि मे गिरेगा नहीं बल्कि उसे सत्य का दामन थामने एवम् अपनी यथार्थ अज्ञता को निर्व्याज व्यक्त कर देने के कारण शोधक अधिक आदर सम्मान का पात्र मानने लगेगा। यह एक सर्वज्ञात विषय है कि जीवन मे सभी क्षेत्रो मे कोई निष्णात नहीं होता। इसलिए यदि किसी प्रशासकीय गडबड से गलत निर्देशक नियुक्त हो भी जाए तो उसे स्पष्ट शब्दों में शोधक को सच्चाई का परिचय देना चाहिए। व्यावहारिक क्षेत्र में निर्देशक का यह सर्वोन्नत गुण कहा जा सकता है।

प्राय एक निर्देशक के साथ एकाधिक शोधार्थी सम्बद्ध रहते हैं। भावना स्तर पर वह किसी के प्रति अधिक मोह रखता या किसी के कार्य को अधिक प्रशसनीय मान सकता है। ऐसा तो प्राय माता-पिता द्वारा अपने बच्चो में भेद डालते हुए भी हो जाता है, किन्तु जिस प्रकार माता-पिता सब बच्चों की आवश्यकताओ की पूर्ति समान रूप से करते हैं, उन्हें समान भोजन पोषण आदि देते हैं, वैसे ही निर्देशक को भी अपने अधीन कार्य करने वाले शोधकों को एक समान सहायता और निर्देशन प्रदान करना चाहिए। किसी एक शोधार्थी की प्रशसा में दूसरे शोधार्थी के कार्य का तिरस्कार किसी एक के मोह मे दूसरे के प्रति असावधानी, शिक्षा-दीन के दुर्गुण कह जायेंगे। निर्देशक पक्ष पात रहित होता है। उसके सभी छात्र उसके लिए माता-पिता की विभिन्न

सन्तानो की तरह एक समान होते है। सभी सन्ताने एक सरीखी योग्य नही होती किन्तु उन्हे माता पिता की ओर से योग्यता के समान अवसर दिये जाते हैं। ठीक इसी प्रकार एक निर्देशक के साथ सम्बद्ध विभिन्न शोधको के कार्य का स्तर भी एक समान नही होता फिर भी निर्देशक का एक दूसरे की तुलना मे किसी को हतोत्साहित किए बिना सब की समान सहायता करनी चाहिए और निपट निष्पक्ष रहकर उनके कार्य को आंकना चाहिए। तात्पर्य यह कि निर्देशक द्वारा शोधार्थी की विषय मूलक प्रशसा वस्तुपरक होनी चाहिए, भावनापरक नही। यदि उसके कार्य म सार तत्त्व अधिक है तो चाहे वह निर्देशक के प्रति सासारिक व्यवहारो की अवहेलना ही करता हो तो भी वह प्रशसा का सही अधिकारी होना चाहिए और दूसरी ओर शोधार्थी कितना भी चापलूस हो, किन्तु यदि उसके कार्य का स्तर नीचा है तो उसकी भर्त्सना की ही जानी चाहिए। ऐसा न करने से निर्देशक पर पक्षपाती होने का दोष तो लगेगा ही, साथ ही वह दोनो प्रकार के शोधार्थियो म अप्रिय हो जायेगा। प्रशसा का अधिकारी शोधक उपयुक्त मूल्याकन न पाकर दुखी होगा और अधिकारी की प्रशसा से ईर्ष्या करेगा, तो दूसरी ओर अनाधिकारी अनपेक्षित प्रशसा पाकर काय के प्रति असावधान तो होगा ही, पीठ पीछे निर्देशक का मखौल उडायेगा।

कर्त्तव्य परायणता निर्देशक के व्यवहार गत गुणो मे महत्त्वपूर्ण तत्त्व कहा जा सकता है। निर्देशक रूप मे नियुक्ति के उपरान्त सहज ही व्यक्ति को कुछ कर्त्तव्यो का पालन करना अपेक्षित होता है। वास्तव मे नियुक्ति के समय शोधक पर जो अधिकार निर्देशक को प्राप्त होता है उसी के समतोल मे निर्देशक के कुछ कर्त्तव्य भी निश्चित हो जाते हैं। शोधक की विषय वस्तु से सम्बन्धित शोध-सामग्री की जाच पडताल करने तथा उससे सुयोग्य लाभ उठान के लिए मार्ग दर्शन करना निर्देशक का कर्त्तव्य है। शोधक, उसका विद्यार्थी उससे ज्ञान प्राप्त करन का इच्छुक और उसे शोध विषय का निष्णात विद्वान मानता है इसलिए निर्देशक का प्रत्येक कथन शोधार्थी के लिए ब्रह्म वाक्य होता है। प्राय शोधार्थी आख मूद कर निर्देशक के आदेशो का पालन किया करते है, किन्तु इससे उनका पथ प्रशस्त नही होता बल्कि कभी कभी रुद्ध होने की नौबत आ जाती है। इसका मुख्य कारण निर्देशक का अत्यधिक हस्तक्षेप होता है। कर्त्तव्य-पालन के क्षेत्र मे असावधानी पूर्ण किया गया हस्तक्षेप दुखद होता है। इससे मार्ग भ्रष्टता और कार्य-क्षय होता है। अत ऐसी किसी भी स्थिति मे निर्देशक को अपने शोधक के प्रति अपने कर्त्तव्यो को यथेष्ट रूप म समझना अपेक्षित होता है। सामग्री के आधार, सामग्री सकलन क स्रोत समस्याओ के समाधान तथा शोध विषयक प्रक्रिया समझन म निर्देशक का जा कर्त्तव्य होता है, निश्चय ही वह शोधक के व्यक्तिगत जीवन म हस्तक्षेप करन म नही होता। इसका अभिप्राय यह नही कि हम निर्देशक को शोधक के जीवन से केवल आशिक सम्बन्ध ही बनाये रखने देना चाहते हैं, बल्कि हमारा लक्ष्य कर्त्तव्य की बात करते हुए निर्देशक और शोधक

को एक ही रेखा के दो बिन्दुओं के समान प्रस्तुत करना है। दोनों अलग भी रहते हैं और एक दूसरे के साथ जुड़े हुए भी, यह उनके व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधृत है कि वे शोध कार्य में इतर एक दूसरे के साथ कितना सहयोग रखना चाहते हैं। कर्त्तव्य परायणता जीवन जीने का एक महत्त्वपूर्ण मूल्य है। शोधक को निर्देशक के प्रति और निर्देशक को शोधक के प्रति इस जीवन मूल्य को पहचानना होता है और इसी के अनुसार जीवन में सौहार्द और सौजन्य लाभ करना होता है। तात्पर्य यह है कि निर्देशक को किसी भी स्थिति में प्रमादी, लोभी या अपकारी नहीं बनना होता। कहावत है कि पुत्र कुपुत्र तो भले हो, माता कभी कुमाता नहीं होती अर्थात् शोधक की असावधानी और निर्देशक के प्रति अवहेलना होने पर भी निर्देशक को अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। पिता की तरह उसे शोधक के उपकार का प्रयास करना चाहिए, शत्रुता या ईर्ष्या वश उसके अपकार का चिन्तन उसके लिए अशोभनीय है।

निर्देशक के कर्त्तव्यपालन की भावना उस समय पतनोन्मुखी हो जाती है जब उसके भीतर किसी प्रकार के लोभ या स्वार्थ की वृत्ति उत्पन्न होती है। कर्त्तव्य-पालक निर्देशक के लिए लोभ हत्या के समान है। देखा गया है कि निर्देशक अपने शोध-छात्रों से कई प्रकार की अपेक्षाएँ करने लगते हैं, जिनमें किसी वस्तु की प्राप्ति, धन की प्राप्ति या बेगार करवाने की वृत्तियां प्रमुख हैं। सम्भव है शोधक की परिस्थितियां इनमें से किसी भी क्षेत्र में निर्देशक की सहायता करने में उसकी असमर्थतता का कारण हो। अतः ऐसे में यदि निर्देशक शोधक के प्रति अदयालु, सहानुभूति-रहित अथवा असावधान हो जाए तो यह स्थिति नैतिक पतन और अन्याय की होगी। किसी भी निर्देशक को यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वह अपने साथ सम्बद्ध शोधक से किसी प्रकार के आर्थिक लाभ की आशा रखे। वह शोधक का अभिभावक होता है, शोषक नहीं। इसलिए हमारे मतानुसार उसे स्वयं अपनी गुरुता का ध्यान रखते हुए आवश्यकता पड़ने पर शोधक की सहायता करनी चाहिए। शोधक यदि श्रद्धावश निर्देशक के लिए कोई उपहार या भेंट लाता भी है तो उसका इसके लिए मधुर डांट सहित हतोत्साहित किया जाना चाहिए।

कभी कभी अहंकार भावना भी निर्देशक के गौरव को ठेस पहुंचाती है। अधिक शोधार्थियों का उसके साथ सम्बन्ध होने की इच्छा व्यक्त करना, विभाग में उच्चपद की प्राप्ति होना तथा विद्वज्जगत में नाम होना आदि तथ्य कभी-कभी निर्देशक को अहंकार बना देते हैं। ठीक भी है, निर्देशक मनुष्य होने के नाते किसी भी दुर्बलता का शिकार हो सकता है, किन्तु उसका महत्त्व इसी बात में है कि वह इन लघुताओं से बचा रह सके। अहंकार एक दुर्गुण है, मनुष्य में इसकी उत्पत्ति प्राय उसे पंगु बना दिया करती है। वह अपने को वास्तविक स्तर से ऊँचा उठा समझने के कारण प्राय अधर में लटका रह जाता है। अहंकारी की यही वृत्ति उसकी प्रगति पर कुठाराघात करती है और उसे नित्य आगे बढ़ते हुए समय से पिछड़ जाने के लिए

मजबूर करती है। स्पष्ट ही इससे कर्त्तव्य च्युति और पतन की प्राप्ति होती है। निर्देशक को चाहिये कि वह ऐसे भावों के विरुद्ध ऊर्ध्वगामी रहे और किसी भी प्रकार का गौरव अर्जित होने पर जीवन के यथार्थ मूल्यों की उपेक्षा न करें। ऐसा करने से ही वह सही अर्थों मे कर्त्तव्य पालन कर सकता है।

एक दुर्घटना हमने अनुभव की है। एक निर्देशक महोदय अकस्मात् अपने शोधक से इसलिए रुठ गये कि उसने उनकी पुत्री के विवाह पर लडकी के लिए अ गूठी तक भी भेंट नहीं की। परिणामत पहले तो उन्होंने शोध-कार्य की पूर्ति पर प्रमाण-पत्र देने मे खूब ना-नुनक की और फिर उसके परीक्षक के पास शिकायत कर उसे दुबारा शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने के लिए प्रतिवेदित करवाया। अपकारी वृत्ति की यह पराकाष्ठा है। इसमे कर्त्तव्य-च्युति के साथ-साथ कुण्ठा और नीचता भी दीख पडती है। ऐसे अपकारी निर्देशक विश्वविद्यालयीन नियमों के अन्तर्गत दण्डनीय होने चाहिए और सामाजिक दृष्टि से भी वे तिरस्करणीय माने जाने चाहिए। कर्त्तव्य एक ऐसी वृत्ति है, जिसकी च्युति उपर्युक्त भावो से तो होती ही है, ईर्ष्या, भय, उन्माद अथवा स्वार्थ की वृत्तिया भी उसका हनन कर देती हैं। कभी-कभी निर्देशक इसी भय से कर्त्तव्य-च्युत हो जाता है कि उसका शोधक शोध-उपाधि प्राप्त कर कही उसका प्रतिद्वन्दी न बन जाए। यद्यपि यह भय अधिकाश ठीक नहीं होता, फिर भी कतिपय स्थितियो मे इसे कार्यान्वित होते देखा गया है—यह स्थिति राजनीति की देन अधिक है शैक्षिक मूल्याकन की कम।

योग्यता परक लक्षण—निर्देशक की क्षमता की बात हम पीछे कर चुके हैं, योग्यता क्षमता का ही एक अ ग है, किन्तु यहा हम योग्यता सम्बन्धी ऐसे लक्षणों की चर्चा करने जा रहे हैं, जिनका सकेत क्षमता के अन्तर्गत नही किया गया। शोध-निर्देशक एक कठिन तपस्या है। शोधक के व्यक्तित्व, व्यवहार, योग्यता, कर्म, ज्ञान और इच्छा, सब पर हावी होने का प्रश्न है। कही सामान्य-चूक भी कुण्ठा की गाठ बन सकती है। इसलिए निर्देशक के विचारशील होने की आवश्यकता है। प्रत्येक कदम पर उसे शोधार्थी की स्थिति और मानसिकता को समझना होता है, हर दशा में उसे धीरज बधाना और उसका उत्साह बनाए रखना निर्देशक का कार्य है। अत विचारशीलता और मर्यादा, योग्यता का वह अ ग है, जिनके आश्रय निर्देशक और शोधक के बीच एक बोधगम्यता पनपती है।

निर्देशक मे उत्साह बढा सकने की योग्यता, शोधक की सुयोग्य रचना की प्रशसा कर सकने की योग्यता, कला को परखने एव महत्त्व को सराहने की योग्यता आदि होना भी अपेक्षित हैं। इन्ही योग्यताओ से दो निपट अपरिचित व्यक्ति एक बार जब जान पहचान के सूत्र मे बधते हैं, तो कभी विच्छिन्न नहीं होते। स्पष्ट कह सकने की योग्यता तो निर्देशक की विभूति ही है। शोधार्थी की भटकन, भूल, अशुद्ध लेखन सामग्री का दूपित प्रयोग, न्यून-श्रमता, असावधानी आदि प्रमादो पर यदि निर्देशक

स्पष्ट शब्दों में टोप की भर्त्सना नहीं कर सकता या खुलकर कोई आदेश नहीं दे सकता, तो उसकी अकादमिक योग्यताएं अकार्थ हो जाती हैं। हमारा विश्वास है कि निर्देशक की उक्त पार्श्व योग्यताएं अन्य सब पहलुओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्राय अशिष्टता और अस्वाभाविकता का बहाना करके निर्देशक इस दिशा से अपने-आप को बचा लेना चाहता है, किन्तु यह घबराहट उसके लिए तथा अन्तत शोध के लिए भी हानिकारक होती है।

(ग) निर्देशन के सिद्धान्त—निर्देशक रास्ता दिखाने वाला आलोक-स्तम्भ होता है, स्वय मार्ग तय करने वाला गतिशील यान नहीं। शोधक को निर्देशक से प्रकाश प्राप्त कर शोध-प्रबन्ध के पथ पर बढ़ना होता है इसलिए निर्देशन की पद्धति तथा पड़ावों को अलग-अलग करके यहां उन पर विचार किया जा सकता है। निर्देशन के चार प्रमुख पड़ाव होते हैं—1 आरम्भिक स्वरूप, 2 सामग्री सकलन, 3 शका-समाधान तथा 4 सकलित सामग्री का अनुशीलन। आरम्भिक स्वरूप में निर्देशक विषयानुरूप कुछ पुस्तकों, पुस्तकालयों, विद्वानों तथा अपेक्षित पत्र-पत्रिकाओं का सकेत देता है, जिनके अध्ययन या जिनसे वार्तालाप द्वारा शोधक को अपने विषय में पैठने का ठोस मार्ग लब्ध हो पाता है। पुस्तकें तथा विद्वान विषय पर हुए कार्य के पूर्वगामी सकेतक होते हैं। विद्वानों से चर्चा करने तथा उक्त पुस्तकों का अध्ययन करने से शोधार्थी को प्रस्तावित विषय पर पहले किए गए कार्य का ज्ञान होता है, नए कार्य के दिशा-निर्धारण की सूझ प्राप्त होती है और पुरानी भूलों से बच सकने का उत्साह मिलता है। निर्देशन-कार्य का यह प्रथम पड़ाव है। शोधक के लिए इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह पुस्तकों के जगल में भटकने से बच जाता है। केवल उचित और उपयुक्त पुस्तकों को ही देखता एव व्यर्थ समय गवाने से सुरक्षित रहता है। सीधे अपने विषय पर ही आक्रमण करता है, इधर-उधर अनावश्यक तथ्यों में लिप्त नहीं होता। शोधार्थी सही दिशा में विषय का ज्ञान प्राप्त करता है, पूर्व-रचित ग्रन्थों से शोध की वैज्ञानिक पद्धति को सीखता है और आवश्यकतानुसार तर्क-वितर्क के मौलिक स्वर उसके मन-मस्तिष्क में बैठने लगते हैं। बाद के पड़ावों पर वह तीक्ष्ण और त्वरित गति का वाहक बनने में समर्थ होता है।

दूसरा पड़ाव सामग्री सकलन का है। निर्देशक इसमें शोधार्थी को प्रस्तावित विषय से सम्बन्धित सामग्री की सम्भावनाएं तथा उपलब्धि के स्रोतों की जानकारी प्रदान करता है। वह शोधक को टीप लेने का ढग, सामग्री का आलेख तैयार करने की विधि, तथा उसकी सुरक्षा का स्वरूप समझाता है। अलग-अलग विद्वानों से चर्चा करने, पुस्तकालयों में जाकर हस्तलिखित मौलिक ग्रन्थ देखने एव आवश्यकतानुसार उनमें से सहायक सामग्री प्राप्त करने का प्रशिक्षण का प्रग है। निर्देशक द्वारा बनाए मार्ग पर चलते हुए शोधार्थी की दिशाएं निश्चित होती हैं और वह अपने कार्य में प्रगति करने लगता है। धीरे-धीरे आगे बढ़ता हुआ जब वह प्रस्तावित विषय से

मजबूर करती है। स्पष्ट ही इससे कर्त्तव्य च्युति और पतन की प्राप्ति होती है। निर्देशक को चाहिये कि वह ऐसे भावो के विरुद्ध ऊर्ध्वगामी रहे और किसी भी प्रकार का गौरव अर्जित होने पर जीवन के यथार्थ मूल्यो की उपेक्षा न करें। ऐसा करने से ही वह सही अर्थो मे कर्त्तव्य पालन कर सकता है।

एक दुर्घटना हमने अनुभव की है। एक निर्देशक महोदय अकस्मात् अपने शोधक से इसलिए रूठ गये कि उसने उनकी पुत्री के विवाह पर लडकी के लिए अगूठी तक भी भेंट नही की। परिणामत पहले तो उन्होने शोध-कार्य की पूर्ति पर प्रमाण पत्र देने मे खूब ना-नुनक की और फिर उसके परीक्षक के पास शिकायत कर उसे दुबारा शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने के लिए प्रतिवेदित करवाया। अपकारी वृत्ति की यह पराकाष्ठा है। इसमे कर्त्तव्य-च्युति के साथ-साथ कुण्ठा और नीचता भी दीख पडती है। ऐसे अपकारी निर्देशक विश्वविद्यालयीन नियमो के अन्तर्गत दण्डनीय होने चाहिए और सामाजिक दृष्टि से भी वे तिरस्करणीय माने जाने चाहिए। कर्त्तव्य एक ऐसी वृत्ति है जिसकी च्युति उपर्युक्त भावो से तो होती ही है, ईर्ष्या, भय, उन्माद अथवा स्वार्थ की वृत्तिया भी उसका हनन कर देती हैं। कभी-कभी निर्देशक इसी भय से कर्त्तव्य-च्युत हो जाता है कि उसका शोधक शोध-उपाधि प्राप्त कर कही उसका प्रतिद्वन्द्वी न बन जाए। यद्यपि यह भय अधिकाश ठीक नही होता, फिर भी कतिपय स्थितियो में इसे कार्यान्वित होते देखा गया है—यह स्थिति राजनीति की देन अधिक है शैक्षिक मूल्याकन की कम।

योग्यता परक लक्षण—निर्देशक की क्षमता की बात हम पीछे कर चुके हैं, योग्यता क्षमता का ही एक अग है, किन्तु यहा हम योग्यता सम्बन्धी ऐसे लक्षणो की चर्चा करने जा रहे हैं, जिनका सकेत क्षमता के अन्तर्गत नही किया गया। शोध-निर्देशक एक कठिन तपस्या है। शोधक के व्यक्तित्व, व्यवहार, योग्यता, कर्म, ज्ञान और इच्छा, सब पर हावी होने का प्रश्न है। कही सामान्य-चूक भी कुण्ठा की गाठ बन सकती है। इसलिए निर्देशक के विचारशील होने की आवश्यकता है। प्रत्येक कदम पर उसे शोधार्थी की स्थिति और मानसिकता को समझना होता है, हर दशा में उसे धीरज बधाना और उसका उत्साह बनाए रखना निर्देशक का कार्य है। अत विचारशीलता और मर्यादा, योग्यता का वह अग है, जिनके आश्रय निर्देशक और शोधक के बीच एक बोधगम्यता पनपती है।

निर्देशक में उत्साह बढा सकने की योग्यता, शोधक की सुयोग्य रचना की प्रशसा कर सकने की योग्यता, कला को परखने एव महत्त्व को सराहने की योग्यता आदि होना भी अपेक्षित है। इन्ही योग्यताओ से दो निपट अपरिचित व्यक्ति एक बार जब जान पहचान के सूत्र मे बधते हैं, तो कभी विच्छिन्न नहीं होते। स्पष्ट कह सकने की योग्यता तो निर्देशक की विभूति ही है। शोधार्थी की भटकन, भूल, अशुद्ध लेखन सामग्री का दूषित प्रयोग, न्यून-श्रमता, असावधानी आदि प्रमादो पर यदि निर्देशक

स्पष्ट शब्दों मे दोष की भर्त्सना नहीं कर सकता या खुलकर कोई आदेश नही दे सकता, तो उसकी अकादमिक योग्यताएं अकार्य हो जाती हैं। हमारा विश्वास है कि निर्देशक की उक्त पार्श्व योग्यताएं अन्य सब पहलुओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्राय अशिष्टता और अस्वाभाविकता का बहाना करके निर्देशक इस दिशा से अपने-आप को बचा लेना चाहता है, किन्तु यह घबराहट उसके लिए तथा अन्तत. शोध के लिए भी हानिकारक होती है।

(ग) निर्देशन के सिद्धान्त—निर्देशक रास्ता दिखाने वाला आलोक-स्तम्भ होता है, स्वय मार्ग तय करने वाला गतिशील यान नही। शोधक को निर्देशक से प्रकाश प्राप्त कर शोध-प्रबन्ध के पथ पर बढना होता है, इसलिए निर्देशन की पद्धति तथा पडावों को अलग-अलग करके यहा उन पर विचार किया जा सकता है। निर्देशन के चार प्रमुख पडाव होते हैं—1 प्रारम्भिक स्वरूप, 2 सामग्री सकलन, 3. शका-समाधान तथा 4 सकलित सामग्री का अनुशीलन। प्रारम्भिक स्वरूप मे निर्देशक विषयानुरूप कुछ पुस्तको, पुस्तकालयो, विद्वानो तथा अपेक्षित पत्र-पत्रिकाओं का सकेत देता है, जिनके अध्ययन या जिनसे वार्तालाप द्वारा शोधक को अपने विषय मे पैठने का ठोस मार्ग लब्ध हो पाता है। पुस्तके तथा विद्वान विषय पर हुए कार्य के पूर्वगामी सकेतक होते हैं। विद्वानो से चर्चा करने तथा उक्त पुस्तको का अध्ययन करने से शोधार्थी को प्रस्तावित विषय पर पहले किए गए कार्य का ज्ञान होता है, नए कार्य के दिशा-निर्धारण की सूझ प्राप्त होती है और पुरानी भूलों से बच सकने का उत्साह मिलता है। निर्देशन-कार्य का यह प्रथम पडाव है। शोधक के लिए इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह पुस्तको के जगल मे भटकने से बच जाता है। केवल उचित और उपयुक्त पुस्तको को ही देखता एव व्यर्थ समय गवाने से सुरक्षित रहता है। सीधे अपने विषय पर ही आक्रमण करता है, इधर-उधर अनावश्यक तथ्यो मे लिप्त नहीं होता। शोधार्थी सही दिशा मे विषय का ज्ञान प्राप्त करता है, पूर्व-रचित ग्रन्थो से शोध की वैज्ञानिक पद्धति को सीखता है और आवश्यकतानुसार तर्क-वितर्क के मौलिक स्वर उसके मन-मस्तिष्क मे बैठने लगते है। बाद के पडावो पर वह तीक्ष्ण और त्वरित गति का वाहक बनने मे समर्थ होता है।

दूसरा पडाव सामग्री सकलन का है। निर्देशक इसमे शोधार्थी को प्रस्तावित विषय से सम्बन्धित सामग्री की सम्भावनाएं तथा उपलब्धि के स्रोतो की जानकारी प्रदान करता है। वह शोधक को टीप लेने का ढग, सामग्री का आलेख तैयार करने की विधि, तथा उसकी सुरक्षा का स्वरूप समझाता है। अलग-अलग विद्वानो से चर्चा करने, पुस्तकालयो मे जाकर हस्तलिखित मौलिक ग्रन्थ देखने एव आवश्यकतानुसार उनमे से सहायक सामग्री प्राप्त करने का प्रशिक्षण का अग है। निर्देशक द्वारा बताए मार्ग पर चलते हुए शोधार्थी की दिशाएं निश्चित होती हैं और वह अपने कार्य में प्रगति करने लगता है। धीरे-धीरे आगे बढना हुआ जब वह प्रस्तावित विषय से

परिचित होने लगता है, तब उसके सम्मुख अनेक आशकाएं, जिज्ञासाएँ जगने लगती हैं। *यह निर्देशन का तीसरा पडाव है। इस स्थिति पर जब भी शोधक निर्देशक से* मिलने जाता है, वह अपनी जिज्ञासाओ और आशकाओ की सूची साथ लेकर जाता है। यह पडाव इधर-उधर की गप्पो अथवा प्रारम्भिक जानकारी का नही है। इस दशा तक आते-आते शोधक अपने प्रस्तावित विषय से पूर्णत परिचित हो चुका होता है, इसलिए उसे कम से कम उपलब्ध समय मे अपनी शकाओ का समाधान प्राप्त कर लेना चाहिए। यहा चूकने वाला शोधक प्राय: चौथे पडाव मे भटक जाया करता है, इसलिए उसे कोई भी जिज्ञासा अथवा शका बिना हल के नही छोडनी चाहिए। शोध-प्रबन्ध लिखते समय उक्त शकाओं का समाधान प्रस्तुत करना अपेक्षित होता है, यदि शोधक इसमें चूकेगा तो सम्भव है कि परीक्षक प्रतिवेदन मे वह उलझन प्रश्न-चिन्ह बन जाय या मौखिकी के समय शोधक की व्यग्रता का कारण बन।

सकलित सामग्री का क्रमात्मक एव सर्वागीण अनुशीलन निर्देशन-क्रम का चौथा पड़ाव है। यह स्थिति शोधक की प्रतिभा को सही अर्थों में व्यक्त करने वाली सानुकूल स्थिति है। इस दशा मे शोधक को अपने समूचे ज्ञान एव सकलित सामग्री के आश्रय एक सुयोग्य प्रबन्ध तैयार करना होता है। समूची सामग्री को क्रमबद्ध करना एक समस्या होती है। निर्देशक पुन सहायक होता है। शोधात्मक क्रम का सही ज्ञान निर्देशक से प्राप्त होता है। शोधक निर्देशक की सहायता से विषय-क्रम तैयार करता है और सामग्री को अध्यायो मे बाधकर आलेख तैयार करता है। अनुशीलनात्मक आलेख मे जिन विशेषताओं को स्थान देना अपेक्षित होना है, निर्देशक उसकी सूझ भी प्रदान करता है। पूर्वज्ञान, पृष्ठभूमि, सकलित नवीन जानकारी (इसमे भाव, भाषा, शिल्प, चिन्तन, जीवन-दृष्टि, मूल्य-बोध एव नवीन दिशा-निर्देशन आदि, सबको स्थान मिलना चाहिए) तथा अन्त मे निष्कर्ष का क्रम बनाने को कहता है। निष्कर्ष मे शोधक की स्थापनाए या मौलिक देन को महत्त्वपूर्ण ढंग से लिखने की विधि निर्देशक बताता है। आदेश की योग्य रूपरेखा के अनुसार जब शोधक आलेख तैयार कर लेता है, तो उसे सहायक ग्रथों की सूची, अनुक्रमणिका आदि तैयार करनी पडती है। अनुसधान की दृष्टि से यह भी तकनीकी कार्य है, इसलिए इस पर भी निर्देशक के सुझावो का महत्व होता है। अब शोध प्रबन्ध पूर्ण समझा जाता है—इस पर भी निर्देशक के प्रमाण-पत्र की अपेक्षा रहती है।

निर्देशन पद्धति पर क्रम पूर्वक अपनी भूमिका निभाने के लिए निर्देशक पर कतिपय प्रतिबन्धो की चर्चा करना भी यहा अन्यथा न होगा। जब-जब भी शोधक निर्देशक के निकट आता है अपनी जिज्ञासाओ को व्यक्त करता अथवा शकाओ का समाधान चाहता है तब तब निर्देशक के ऊपर प्रतिबन्ध की जकड बढने लगती है। शोधक या निर्देशक किसी के पास भी मिलने का समय सीमित होता है, बहुधा शोधक दूसरे स्थान पर रहने वाला होन के कारण छोटे अन्तराल म बार-बार उपस्थित नही

हो सकता। इसलिए दोनों की सुविधा का ध्यान रखते हुए निर्देशक को अप्रासंगिक बातों से बचे रहने की जरूरत होती है। हमारा अभिप्राय यह है कि वे दोनों जिस थोड़े से समय के लिए मिल रहे हैं, उसमें वे केवल विषय-सम्बन्धी चर्चा ही करें, घर-परिवार तथा जग रीती की बातों को भूल जाय। समकालीन परिस्थितियों, पार्टी-राजनीति, कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय की गतिविधियों या देश की पतनोन्मुखी स्थिति पर बहस करने के लिए अन्य कोई समय निकाला जा सकता है। ध्यान रहे, ये सब बातें प्रस्तावित विषय से सम्बन्धित नहीं होतीं इसीलिए हमने इन्हें अप्रासंगिक कहा है। साहित्य सम्बन्धी केवल वही चर्चा हो सकती है जिसका कोई पहलू विषय के किसी भी अंश का स्पर्श करता हो। यहां निर्देशक को बातचीत करते समय साहित्यिक मूल्यांकन पर ही ध्यान देना होता है। उसके पास भावुक होकर व्यक्तित्व परक अनुशीलन का अवकाश नहीं होता। निर्देशक के लिए अनिवार्य है कि वह शुद्ध वस्तुपरक और तथ्यात्मक चर्चा करे, भावात्मक अथवा व्यक्तिपरक मत शोध-नियमों के विरुद्ध पड़ते हैं।

निर्देशक को जो भी आदेश देना हो, वह स्पष्ट और शोध विधा की अपेक्षाओं के अनुसार देना चाहिए। प्राय: देखा जाता है कि निर्देशक स्वयं ही बहुधा यह निर्णय नहीं कर पाता कि स्थिति का कौन सा पार्श्व उपयोगी या अनुकूल होगा। हम एक ऐसे शोध-सदर्भ के बारे जानते हैं, जहां निर्देशक ने प्रथम अध्याय को बार-बार अपने ही आदेशों मे फेरबदल कर पांच बार लिखवाया और अन्तत: जब पांचवीं बार का आलेख भी उसे स्वीकार न हो सका तो उसने एकाएक सर्वप्रथम तैयार किए गए आलेख को स्वीकृति दे दी और बाद के चारों आलेख रद्द कर दिए। तात्पर्य यह कि निर्देशक स्वयं अपने ही आदेशों और मार्ग-दर्शन के कतिपय आदर्श सपनों में ऐसा उलझ गया कि फिर निकल सकने में समय नहीं हो पाया। परिणामत: उसने शोधक का छ: महीने का समय व्यर्थ कर दिया। इसीलिए यह आवश्यक है कि निर्देशक सदैव स्पष्ट और नियत शब्दों में आदेश दे और शब्दत: उसके अनुसार लिए गए कार्य को स्वीकार करले। अन्यथा, वह शोधक की दृष्टि में तो पतित होगा ही उसके द्वारा निर्दिष्ट शोध-कार्य भी कोई महत्व अर्जित नहीं कर सकेगा। हमारा सुझाव है कि निर्देशक को इस दूषण के प्रति खूब सावधान रहने की अपेक्षा है, इसलिए वह निर्देशन के दौरान स्वयं भी उस विषय मे सम्बन्धित रचनाओं का दक्षता पढ़ता रह सके, तो उत्तम होगा।

उपर्युक्त प्रतिबन्ध ओढ लेना शायद निर्देशक के लिए सुगम हो, किन्तु कभी-कभी शोधक इतना काइयां होता है कि वह निर्देशक को बुद्धू बनाकर, शोध-नियमों की सीमाओं का उल्लंघन करता हुआ एकदम करुणा का विषय बनने का प्रयास करता है। वह अपनी समस्याओं, पारिवारिक उलझनों, बाल बच्चों के रुग्ण होने की झूठी-सच्ची कहानियों, आर्थिक अभावों, अपने ऊपर होने वाले अन्याय के मिथ्या विवरणों को इतनी वेदनामयी भाषा मे निर्देशक को सुनाता है कि विद्वान किन्तु भावुक निर्देशक

का हृदय पसीज उठता है। वह करुणा द्रवित होकर शोधक के द्वारा किया जाने वाला कार्य स्वय करने को तत्पर हो जाता है। वास्तव मे यह करुणा फलवती नही होती—इसम निर्देशक तथा शोधक की हानि छिपी रहती है। सम्भव है, करुणा सभर होकर न र्देशक शोधव के स्थान पर स्वय सामग्री सगन्ति करने को तैयार हो जाय, शोधक को श्रुसलेखन प्रदान करने लगे या किसी पुराने अप्रकाशित शोध प्रबन्ध मे से तैयार सामग्री चुरा लेने का सुझाव देने बैठे। निर्देशक के लिए ये तीनों स्थितियाँ घातक हैं। उसे किसी भी स्थिति मे नियमो का सीमोल्लघन नहीं करना चाहिए। वह पथ सुझाने वाला है, स्वय उस पथ पर बढते चले जाना उसकी नियति नही। उसका कर्त्तव्य शोधार्थी को सही रास्ता बता देने पर समाप्त हो जाता है, शोध पर्यवेक्षण स्वय अनुसधाता का करना होता है। निर्देशक गवेषक नही होता, एक स्थिति विशेष मे गवेषक के लिए वह सकेत-पट का कार्य करता है। यह सही है कि निर्देशक जड पट्टिका न होकर चेतन व्यक्तित्व होता है। चेतना के सम्पर्क में आकर तो जडता भी माहौल पैदा करने लगती है, फिर सचेतन निर्देशक शोधक के सम्पर्क में उसके व्यवहार, नवीन जानकारी, चापलूसी (1) या मानवीय स्नेह से सहज प्रभावित क्यो न हो! प्रभावित होगा तो प्रतिक्रिया भी होगी, आत्मीयता, पारिवारिक सम्बन्ध, आना-जाना, विनिमय-विनोद, सब होने लगेगा। किन्तु सावधान, ये सब बातें निर्देशक-शोधक की सम्बन्ध-परिधि के नियमो के विरुद्ध हैं। कार्यकाल के दौरान ये वर्जित होनी चाहिए—यदि हो भी तो कम-से-कम शोध प्रबन्ध लेखन पर इनका कोई प्रभाव नहीं पडना चाहिए। इस ओर ध्यान न दिया गया तो शोध-प्रबन्ध मे 'प्रबन्ध' तो बचेगा, 'शोध' की हत्या हो जायगी।

अध्याय 8

विषय–चयन तथा शोध–प्रविधि

शोध के व्यावहारिक पक्ष मे विषय-चयन कठिनतर कार्य है। प्राय देखा गया है कि विद्यार्थी को शोध की ललक होती है, कार्य कर लेने का उत्साह भी होता है उसमे, किन्तु उस अपनी अभिरूचियो तथा क्षमता का ज्ञान नही होता। यही कारण है कि जब वह पजीकरण-अधिकारी के सम्मुख पहुचता है, उसके पास कोई विषय या साहित्यक समस्या ऐसी नही होती जिस पर वह शोध-कार्य करने का मन बना रहा हो। परिणामत वह कहने लगता है विषय आप कोई भी सुझा दे, मैं कार्य करना चाहता हू। यह उत्तर इतना भ्रामक और दूषित होता है कि यदि पजीकरण अधिकारी अध्यापक होने के नाते विद्यार्थी के प्रति सहानुभूति का स्वाभाविक शिकार न हो, तो वह साक्षात्कार मे ही उसकी छटनी कर देगा। शोध छात्र बनने के जिज्ञासु को अपनी अभिरुचि और क्षमता का ज्ञान होना चाहिए। उसे विदित होना चाहिए कि किस क्षेत्र मे उसकी गति है, कौन-सा विषय उसे भाता है, किस पहलू पर कार्य उसे सुविधापूर्ण होगा। यदि इस दिशा मे उसने पहले से विचार किया हो और अपनी क्षमताओ के अनुकूल विषय-चयन किया हो, तो वह श्रेष्ठ शोधार्थी प्रमाणित हो सकता है। इसी सदर्भ मे हम यहाँ विषय चयन एव चयनीय विषयो पर चर्चा करेंगे।

(1) विषय चयन—एक विद्वान का कथन है कि यदि शोध विषय अनुसन्धाता की इच्छानुसार चयित न होकर अधिकारियो द्वारा प्रदत्त हो, तो वह किसी भी स्थिति मे ज्ञान के वर्तमान क्षेत्र को आगे नही बढा सकता। न ही उस विषय पर किया गया शोध अभियान किसी अज्ञात तथ्य को ज्ञात बनाने मे सक्षम होता है। यही कारण है कि विषय-चयन शोधार्थी के गतिशील होने में अत्यधिक आवश्यक तत्त्व होता है किन्तु दुर्भाग्यवश लोग इसी की सर्वाधिक उपेक्षा कर देते है। यहाँ इसी उपेक्षा के विरुद्ध हमे कुछ नियमो, सिद्धान्तो और पद्धतियो की चर्चा करनी है।

विश्वविद्यालयो मे प्राय शोध विषय चयन की तीन पद्धतियो को अपनाया जाता है। डा भगीरथ मिश्र के अनुसार तीसरी पद्धति जिसमे वर्ष भर के लिए शोध-विषयो की सूची तैयार कर ली जाती है और प्रस्तावित शोधार्थियो को अपनी योग्यता और अभिरुचि के अनुसार उसम से विषय चुन लेना होता है, कोई विशेष उपयोगी नही। क्योकि सूची तैयार करते हुए प्रायः विभाग के लोग अन्य विश्वविद्यालयो में

होने वाले शोध-कार्य से परिचित नहीं होते। उन्हें यह भी मालूम नहीं होता कि विस्तारगत और सूक्ष्मता विषयों की क्या गति है और वे किन पहलुओं से चर्चायित हो चुके हैं। शेष दो पद्धतियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। प्रथम पद्धति में विश्वविद्यालय अपनी सुविधाओं और मौलिक परिस्थितियों की दृष्टि से योजनाबद्ध शोध करवाते हैं। योजनाबद्ध शोध में विश्वविद्यालय के द्वारा शोध का कोई विशिष्ट क्षेत्र चुन लिया जाता है और शोध प्रस्ताव करने वाले जिज्ञासु को उसी क्षेत्र के पहलू पर कार्य करने को कहा जाता है। इस पद्धति में कुछ दोष भी हैं। इसके अनुसार शोधार्थी की अभिरुचियों और मनोवृत्तियों का ध्यान नहीं रखा जा सकता। दूसरे, इस पद्धति में प्रत्येक शोधार्थी फिट नहीं बैठता, जिसके कारण शोधार्थी को विषय-परिवर्तन के ही लिए विश्वविद्यालय परिवर्तन करना पड़ सकता है। तीसरी पद्धति में वैयक्तिक चयन प्रधान होता है। अधिकतर विश्वविद्यालयों में आजकल यही प्रणाली प्रमुख है। इसके अन्तर्गत शोध-छात्र बनने का जिज्ञासु व्यक्ति अपनी इच्छानुकूल विषय का चुनाव करता है। कदाचित क्रमवार वह दो या तीन विषयों को शोध समिति के सम्मुख प्रस्तुत करता है, जिसमें से समिति के अधिकारी उपयुक्तता और उपयोगिता के मान दण्डों पर श्रेष्ठ उतरने वाले विषय को स्वीकार कर लेते हैं। आवश्यकता पड़ने पर विषय के विस्तार अथवा स्वरूप का संशोधन समिति स्वयं कर देती है। इस पद्धति में निर्देशक खोजने की कठिनाई हो सकती है। उक्त समस्या का समाधान तभी सम्भव हो सकता है जब वैयक्तिक चुनाव करने वाले विद्यार्थी शोध-समिति के सम्मुख प्रस्तावित विषय रखने से पूर्व विश्वविद्यालय के विद्वान प्राध्यापकों और विषय-क्षेत्र के जानकार महानुभवों से परामर्श कर लिया जाए। यदि सम्भव हो तो प्रस्तावित निर्देशक से लिखित स्वीकृति प्राप्त कर लेना भी उचित ही होगा।

योजनाबद्ध विषय-चयन कुछ ही विश्व विद्यालयों की विभूति हो सकता है। उदाहरणार्थ, पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला में योजनाबद्ध शोध कार्य की महती सम्भावना हो सकती है। यहाँ के स्थानीय एवम् निकटवर्ती नगरों के कतिपय पुस्तकालयों में हजारों की संख्या में ऐसी अछूती पाण्डुलिपियां मौजूद है जो विविध साहित्यिक विषयों गुरुमुखीलिपि में लिखी गई हैं और जिनकी भाषा ब्रज है। यही साहित्य आज तक हिन्दी जगत के लिए इसलिए अज्ञात रहा कि हिन्दी के विद्वान गुरुमुखी लिपि से परिचित नहीं थे और पंजाबी के विद्वानों ने ब्रज भाषा देखकर उसकी उपेक्षा कर दी। अब, जबकि इस प्रदेश में एक अलग विश्वविद्यालय स्थापित हो चुका है और प्रदेश के ही विद्वानों ने, जो कि हिन्दी और पंजाबी दोनों भाषाओं से परिचित हैं उक्त साहित्य को पहचान लिया है, उन्हें इस अज्ञात साहित्य को योजनाबद्ध रूप में लिप्यन्तरित, सम्पादित, आकलित एवम् मूल्यांकित करना चाहिए। सहज ही यहां ऐसे शोध छात्र उपलब्ध हो सकते हैं जो पंजाबी तथा हिन्दी दोनों भाषाओं से परिचित हों और जिन्हें पंजाब प्रदेश की संस्कृति और जीवन दृष्टि से मोह हो। उक्त प्रकार का योजनाबद्ध

अध्ययन इसी प्रकार के अज्ञात से सम्बन्धित गुजरात, मराठवाडा, आन्ध्र, हिमाचल प्रदेश एवन् तिरुपति आदि विश्वविद्यालयो मे करवाया जा सकता है। ध्यान रहे कि योजना बनाने के उपरान्त हमें उस क्षेत्र मे अरुचि रखने वाले लोगो के द्वारा प्रस्तुत शोध विषयो पर प्रतिबन्ध नही लगाना चाहिए, क्योकि ऐसा करने से जिज्ञासुओ के मार्ग मे बाधा तो पडगी ही, सम्भव है कार्य-गति भी धीमी हो जाये।

यह एक सर्वमान्य विषय है कि शोध की क्रिया विस्तार मे गहनता की ओर आती है। पीछले तीस वर्षो से हिन्दी मे पर्याप्त एव तीव्र गति मे शोध कार्य चल रहा है। इस काल म विस्तारगत विषयो पर बहुत लिखा जा चुका है। अब हिन्दी शोध विस्तार के अन्तर्गत गहन और सूक्ष्म विषयो के निर्वाचन की ओर बढ रहा है। बहुत सा ज्ञान अभी अस्पष्ट है, अनेक तत्त्व अभी तक वायवीय हैं, उन्हें आकार देना अभी शेष है। अब तक साहित्यिक क्षेत्र मे केवल ऐसा अनुसन्धान हुआ है जिसम अज्ञात रचनाओ साहित्यकारो की स्थापना की गई है या ज्ञात कृतियो तथा कृतिकारो का परीक्षण मूल्याकन किया गया है। आवश्यकता है कि हम साहित्य की उन प्रवृत्तियो, पृष्ठभूमियो और पद्धतियो का यथार्थ ज्ञान साहित्य प्रेमियो को दे सकें, जिससे उनके सास्कृतिक और जातीय जीवन मे नवालोक का उदय हो सके और राष्ट्र का दिशा निर्देश सम्भव हो। उक्त तथ्यो को लक्ष्य करते हुए जब विषय-चयन का प्रश्न उठता है, तो हमे अनेक बातो का ध्यान रखना होता है। नीचे हम उन्ही ध्यातव्य बातो की व्याख्या कर रहे हैं

(क) अभिरुचि—शोध जिज्ञासु को विषय का चुनाव स्वय करने की छूट दी जानी चाहिए। किसी भी स्थिति मे वहाँ पर अभिरुचि के विरुद्ध कोई विषय लादना अनुपयुक्त होगा। अभिरुचि से भिन्न विषय पर कार्य करना प्राय शोध जिज्ञासु के लिए सुखद अध्ययन की अपेक्षा बोझ ढोने के समान होगा। शोधार्थी की अभिरुचि का ध्यान रखना पजीकरण समिति क लिए जरूरी है। ऐसी स्थितिया भी देखी गई हैं जहा विद्यार्थी को स्वय अपनी अभिरुचि का ज्ञान नही होता, पूछने पर साहित्य की दो तीन विधाओ पर वह एक साथ रुचि प्रदर्शित करता है, किन्तु ऐसा सम्भव प्रतीत नही होता। शोधक की अभिरुचि को समझने के लिए उसके द्वारा आमतौर पर पढी जाने वाली पुस्तकों से भी अनुमान किया जा सकता है। कहानी, उपन्यास या नाटक के क्षेत्रो में तो यह अनुमान शतश सही बैठता है।

(ग) क्षमता और मनोवृत्ति—विषय-चयन से पूर्व शोध जिज्ञासु की क्षमता और मनोवृत्ति का भी ठीक-ठीक अन्दाज होना चाहिए। प्राय देखा गया है कि स्त्रियो की क्षमता क्षेत्रीय कार्यों मे कम होती है। पुरुष क्षेत्रीय विषयो मे सक्षम हो सकते हैं। पूर्णत अज्ञात विषयो में, जहा पुरातत्त्व की सहायता से साहित्यकारो की जीवनिया आदि निश्चित करनी होती है, स्त्रियो की गति नही होती। तात्पर्य यह कि स्त्री-पुरुष भेद, बौद्धिक परिपक्वता तथा साधन जुटाने की क्षमता के भेदों को सम्मुख

रखते हुए ही किसी जिज्ञासु के लिए शोध विषय का चुनाव किया जाना चाहिए। भावुक मनोवृत्ति का व्यक्ति, सम्भव है, दार्शनिक चिन्तन पर कार्य न करे। उसके लिए काव्यात्मक सौन्दर्य सम्बन्धी विषय उपयुक्त होंगे, जबकि बौद्धिक तथा तर्कशील प्राणी के लिए दार्शनिक अनुशीलन अथवा वाद सम्बन्धी प्रवृत्तियों को प्रधानता दी जा सकती है। मनोवृत्ति का स्थान हमारी दृष्टि में क्षमता से भी ऊंचा है, क्योंकि कोई भी शोधार्थी मनोवृत्तियों के घेरे से बाहर किसी प्रकार की अर्जित साहित्यिक सम्पन्नता को ग्रहण नहीं कर सकता।

(ग) विषय की उपयोगिता—विषय का निर्वाचन करते समय उसकी उपयोगिता का ध्यान भी अनिवार्य है। बेकार व्यर्थ के तथ्यों पर दो-तीन वर्ष लगाकर प्रस्तुत किया गया शोध-प्रबन्ध न तो शोधक के भविष्य में आलोक-किरण उत्पन्न करता है और न साहित्य जगत के लिए कोई नवीन उपलब्धि होती है। अतः हमारे जातीय जीवन अथवा सामाजिक चिन्तन में क्रान्ति लाने वाला शोध-कार्य न भी हो, साहित्य जगत में नवीन जानकारी प्रस्तुत करने वाला तो होना ही चाहिए। अज्ञात साहित्य को ज्ञात बनाने में उपयोगिता अधिक हो सकती है, किसी पुरातन तथ्य को नवीन धरातल पर व्याख्यायित करना भी उचित ही है किन्तु उस सामान्य कवि का समीक्षात्मक अध्ययन करने का क्या लाभ होगा, जिसके हर पहलू पर पहले से ही समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं ? विषय की उपयोगिता नियुक्तियों की दृष्टि से भी ध्यातव्य है। आजकल सौन्दर्य शास्त्र, शैलीविज्ञान, इतिहास दर्शन आदि विषयों की अधिक चर्चा हो रही है। जो शोध छात्र साहित्य के उक्त पक्षों पर शोध विषय चुनना चाहेंगे, स्वाभाविक ही उनका विषय उनकी नियुक्ति सहायक होगा।

(घ) उपयुक्तता—विषय की उपयोगिता के साथ-साथ उपयुक्तता भी अनिवार्य है। कई बार विषय-पद शीर्षक विषय के प्रति स्पष्ट नहीं होता। उस अस्पष्टता का परिणाम यह होता है कि शीर्षक और प्रबन्ध की सामग्री दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। हमने स्वयं वर्षों पूर्व जब शोध पंजीकरण प्राप्त करना चाहा था, तो मन में गुरुनानक काव्य का दार्शनिक दृष्टि से अनुशीलन करने की इच्छा थी और आवेदन पत्र में विषय के स्थान पर हमने भरा 'गुरु नानक काव्य के दार्शनिक आधार।' विषय जब स्वीकृत हो गया और निर्देशक नियुक्त कर दिए गए तो उनसे पहली ही भेंट में हम अपनी भूल समझ आ गई। स्पष्ट ही आधार का अध्ययन करते समय हमें गुरु नानक काव्य में आए दार्शनिक तत्त्वों को गौण और भारतीय औपनिषदिक चिन्तन धारा को, जो कि गुरु नानक काव्य का आधार है, प्रमुखता देनी पड़ती। इससे कवि की रचना का दार्शनिक अनुशीलन गौण हो जाता और उसकी पृष्ठभूमि उभर कर सामने आती। सामान्यतः शब्दों की यह छोटी-सी हेर-फेर स्थिति को आमूल परिवर्तित कर देती है। 'गुरु ग्रन्थ में युग चेतना' नाम से एक शोध प्रबन्ध परीक्षार्थ हमारे पास आया, जिसका समूचा विवरण युगीन चेतना को प्रकट करता

था, युग चेतना को नही। ऐसी स्थिति मे शायद पंजीकरण समिति ने युग चेतना शब्द की उपयुक्तता को समझने का प्रयास नहीं किया था। इस प्रकार की अनेक अशुद्धियां असावधानी वश विषय-चयन म हो जाया करती हैं, जिनका ध्यान रखना शोधार्थी तथा पंजीकरण समिति, दोनो के लिए आवश्यक है।

(ङ) पूर्व ज्ञान—विषय चयन के समय शोधार्थी के पूर्व ज्ञान की जाच भी कर लेनी चाहिए। जिस विषय को वह अध्ययनार्थ प्रस्तुत कर रहा है क्या उस विषय मे पहले से ही शोधार्थी को कुछ गति है, यदि नही तो क्या उसने शोध विषय के रूप मे प्रस्ताव करने म पूर्व उक्त सम्बन्ध मे कुछ अध्ययन किया है, या कोई पृष्ठभूमि तैयार की हैं ? इन सभी स्थितियो मे यदि शोधार्थी ने कोई प्रयास नही किया तो क्या उसे उक्त क्षेत्र मे कार्य करने की छूट दी जानी चाहिए ? पंजीकरण समिति को इस पर विचार करना चाहिए। कई बार ऐसी स्थितियां भी आती हैं कि शोधार्थी को बिना किसी पूर्व ज्ञान के कोई विषय थमा दिया जाता है, और साल भर माथा पच्ची करने के बाद भी विषय का सिर-पैर उसकी समझ मे नही आता। ऐसा विषय-चयन दूषित होता है। यथा सम्भव शोधक को वही विषय मिलना चाहिए, जिसका पूर्व अध्ययन उसने किया हो और जिसमें और आगे बढने का सामर्थ्य उसमे मौजूदा से।

(च) सामग्री सुलभता की सम्भावना—विषय चयन के लिए सामग्री सुलभता की सम्भावना एक महत्वपूर्ण आधार है। शोध जिज्ञासु को केवल उसी क्षेत्र मे विषय चयन करना चाहिए, जिस क्षेत्र मे उसे सुगमता पूर्वक सामग्री उपलब्ध हो जाने की सम्भावना हो। ऐसे विषय जिन पर सम्बद्ध सामग्री का उपलब्ध हो सकना कठिन हो, प्राय गले का ढोल बन जाया करते है। निर्देशक को चाहिए कि वह शोधक को इस दिशा में पहले से सावधान कर दें। पंजीकरण समिति के विद्वानों को भी इस तथ्य का ध्यान रखना चाहिए। पाठालोचन अथवा साहित्य-इतिहास सम्बन्धी विषयो मे सामग्री की उपलब्धि कठिन होती है, विस्तार भी बहुत होता है, इसलिए विषय के पंजीकृत होने से पूर्व शोधार्थी को उपलब्ध सामग्री का समुचित मूल्यांकन कर लेना चाहिए तथा सुयोग्य सम्भावनाओं की यथा सम्भव जाच भी हो जानी चाहिए। इसके अभाव म शोध कार्य का प्रारम्भ तो शायद हो सकेगा किन्तु अन्तिम निष्कर्षों तक पहुंचना दुष्कर हो जायेगा।

तात्पर्य यह है कि विषय निर्वाचन एक महत्त्वपूर्ण और कठिन प्रक्रिया है, जिस पर कोई भी निर्णय लेने स पूर्व भली भांति विचार कर लिया जाना चाहिए। उपरि चर्चित तत्त्वों का ध्यान रखते हुए शोधक के लिए, बौद्धिक स्तर और सामग्री की उपलब्धि के अनुकूल विषय निश्चित किया जाना चाहिए। एक बार विषय के निश्चित हो जाने पर बार-बार मन विचलित नही होना चाहिए और

शोधार्थी को दत्तचित्त होकर अपनी समस्त शक्तियो को विषय मे अनुकूल सुयोग्य शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने मे लगा देना चाहिए ।

(ii) **सम्भाव्य शोध-विषय**—विषय-चयन की प्रक्रिया के उपरान्त अब हम *चयनीय विषयों की चर्चा करेंगे। हमारा शोध विषय हिन्दी के सीमित घर मे से* चुना जाने वाला है इसलिए हम पहले मे ही यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि हम हिन्दी के घेरे मे हिन्दी साहित्य अथवा हिन्दी भाषा को ही प्रमाणित मानते हैं। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत हिन्दी प्रदेश (मध्य प्रदेश) की सब भाषाएँ, बोलिया और लोक साहित्य शामिल हैं। किसी अहिन्दी भाषी प्रदेश की भाषाओ, बोलियो को भी यदि हिन्दी के सन्दर्भ मे तुलनार्थ अपनाया जायेगा, तो भी उसे हम हिन्दी के घेरे में ही स्वीकार करेंगे। प्रत्येक शोधार्थी को जो शोध-विषय चुनना होता है, वह यदि साहित्य से सम्बन्धित होगा तो साहित्य की किसी भी रचना, रचनाकार, प्रवृत्ति अथवा पद्धति के अन्वीक्षण, परीक्षण से सम्बन्धित होगा या यदि वह भाषा से चुना गया तो व्याकरण, भाषा विज्ञान अथवा शब्दावली से सम्बन्धित हो सकता है। यह सही है कि आजकल अधिकतर शोध कार्य भाषा से सम्बन्धित न होकर साहित्य से सम्बन्धित हो रहा है। यदि इन दोनों पक्षो मे कोई सन्तुलन स्थापित हो सके तो उपयुक्त ही होगा। किन्तु यदि लोक प्रियता और भाषा वैज्ञानिक ज्ञानाभाव के कारण ऐसा सम्भव न हो सके और अधिक शोधार्थी भाषा सम्बन्धी विषय-चयन करने मे असमर्थ रहें, तो भी अभी एसे अनेक क्षेत्र विद्यमान हैं, जिनमें शोध की सम्भावनाए मौजूद हैं और जिन पर शोध कार्य होने के लिए विपुल अवकाश एवम् सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

(क) **साहित्येतिहास** इस क्षेत्र को प्रारम्भिक इतिहासकारो ने ऐतिहासिक सूत्रो के बिना ही स्पर्श किया था, किन्तु उनसे कतिपय लेखको के नामों, स्थानो, समयो और रचना का ज्ञान तो मिलता है किन्तु उनकी देन मे ऐतिहासिक सूत्र बद्धता का निपट अभाव है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह सूत्र प्रदान किया और डा रामकुमार वर्मा ने इसमे समीक्षात्मक दृष्टि प्रदान की, फिर भी आज तक हिन्दी साहित्य के इतिहास को न तो ऐतिहासिक क्रम मिल सका और न ही हिन्दी के अज्ञात कवियो अथवा छुट पुट रचनाकारो का उद्धार हो पाया। पिछले तीस वर्षों मे हिन्दी में जो शोध हुई, उसन नई नवीन दिशाए आलोकित की। रजवाडो दरबारो में अनेक कवियो एवम् उनके समृद्ध साहित्य को खोज निकाला गया, कतिपय हिन्दीतर प्रदेशो मे देवनागरी के अतिरिक्त अन्य लिपियो मे रचा गया हिन्दी साहित्य प्रकाश मे आया, कतिपय नये परिवेशो, प्रभावो और परिस्थितियो का पता चला। उनके परिप्रेक्ष्य मे आज न केवल साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्या उदित हुई है, बल्कि साहित्य की प्रवृत्तियो, काल विभाजन की पद्धतियो आदि को जो नयी दिशाए प्राप्त हुई हैं, उन पर सूक्ष्मतर शोध की अपेक्षा बनी है। आज तक इतिहास

सम्बन्धी जो कार्य हुआ, उसमें विस्तार तो था, गहनता नहीं। क्योंकि आज का शोधार्थी बौद्धिक चेतना में तीस वर्ष पूर्व के शोधार्थी से अधिक परिपक्व है, वह गहनता वाले अभाव की पूर्ति कर सकता है।

हैरानी होती है जब हम हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध कवियों या लेखकों की जीवनी पर दृष्टिपात करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर, सूर, तुलसी जैसे महारथियों की रचनाओं का अध्ययन तो खूब किया गया है, किन्तु आज तक उनकी सही और शोध पूर्ण साहित्यिक जीवनियां निश्चित नहीं की जा सकीं। तुलसी के सम्बन्ध में सोरों और राजापुर का झगड़ा आज तक नहीं निपट सका, बिलवा मंगल की घटना का सूरदास के साथ मिला दिया जाता है, मीरां के जीवन के चमत्कार अभी तक रहस्य ही बने हुए हैं, क्यों न ऐसी साहित्य सम्बन्धी जीवनी परक समस्याओं को शोध का विषय बनाया जाए। साहित्य में कवियों के एक वर्ग द्वारा किसी प्रवृत्ति विशेष की स्थापना के कारणों और पूर्व वातावरण के प्रभाव का अध्ययन उपयुक्त शोध विषय हो सकते हैं। यहां ध्यान देने की एक बात और है देश की सांस्कृतिक, जातीय तथा सामाजिक परिपाटियों प्रवृत्तियों और प्रणालियों ने युगीन साहित्य को किस किस दिशा में प्रेरित किया, आज तक साहित्य के किसी इतिहासकार ने इस ओर दृष्टिपात नहीं किया। नवीन युग के वर्गवार शोधार्थियों से आशा की जा सकती है कि वे विषय-चयन के समय इस क्षेत्र को भी उजागर करें।

(ख) काव्य शास्त्र—हिन्दी में काव्य शास्त्र के क्षेत्र में बहुत कम शोध हुई है। गिनती के जो आठ-दस शोध-प्रबन्ध इस दिशा में लिखे भी गए हैं, वे सस्कृत काव्य-शास्त्र के रूपान्तर मात्र दीख पड़ते हैं। कुछ शोधार्थियों ने काव्य शास्त्र को आधार बनाकर कतिपय रचनाओं के शास्त्रीय अध्ययन अथवा रस, अलंकार या छन्द की परिगणना करने का प्रयास किया। किन्तु यह सब काव्य शास्त्र के सैद्धान्तिक अध्ययन नहीं। आज समय आ चुका है कि हम हिन्दी के समृद्ध साहित्य को सम्मुख रखते हुए काव्य-शास्त्री सिद्धान्तों को नवरूपायित करें। किसी महाकाव्य को आज भी दण्डी या उद्भट के द्वारा दिये गये महाकाव्य के लक्षणों में बांध कर अध्ययन करना काव्य शास्त्रीय वादियों का मजाक उड़ाना होगा। आवश्यकता है, आज हिन्दी की विपुल रचना सामग्री को सम्मुख रखते हुए महाकाव्य के नये सिद्धान्त गढ़ने की। पुराने लक्षणों के अनुसार तो रामचरितमानस, कामायनी, साकेत आदि कोई भी महाकाव्य नहीं ठहरेगा और यदि नायक के लक्षण भी पुराने ही रहे तो प्रेमचन्द, निराला जैसे साधारण व्यक्तियों पर लिखे गए महाकाव्यों या निषादराज जैसे नाविक पर लिखे गए प्रबन्ध काव्यों की क्या दशा होगी, उर्मिला, कमला नेहरू, कैकेयी आदि तो हैं ही नायिका प्रधान। इन तथ्यों को सम्मुख रखते हुए काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों की नवापेक्षा है, यही स्थिति साहित्य की अन्य विधाओं के सम्बन्ध में भी है। नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि की रचनाधर्मी

प्रवृत्तियां तेजी से बदल रही हैं, उनके प्रकार तत्त्व और शैलियां पूरी तरह बदल चुकी हैं, नवीन धारा के लेखकों ने पुरानी लीक लगभग मिटा दी है, तो क्या अब नई रचना के अनुसार नये शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं गढ़े जाने चाहिए ? हमारा आग्रह है कि आज का प्रबुद्ध शोधार्थी विषय-चयन करता हुआ इस दिशा में ध्यान दे और लीक से हटकर नवीन उपलब्धियों का सवाहक बने।

(ग) तुलनात्मक अनुशीलन—हिन्दी अनुसन्धान के क्षेत्र में यह पक्ष भी दुर्बल है। हिन्दी तथा हिन्दीतर भाषाओं के साहित्य-विधाओं, प्रवृत्तियों, कला अभिरुचियों, प्रभावों, समान-धर्मी लेखकों और समान कथ्य की कृतियों आदि में तुलना का पर्याप्त अवकाश रहता है। यदि कोई तुलना के इस स्तर को शोध विषय के रूप में अपनाए तो उसके लिए दो लक्षणों का होना अनिवार्य है। 1 हिन्दीतर भाषा का समुचित ज्ञान 2 तुलनात्मक शोध के नियम। तुलनात्मकता प्रस्तुत करने के लिए शोध-क्षेत्र में कई ढंग अपनाए जाते हैं, जिनका वर्णन इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में कर चुके हैं। यहां इतना समझ लेना ही पर्याप्त होगा कि तुलनात्मक क्षेत्र में बहुसंख्यक विषयों की सम्भावना मौजूद है। शोधार्थियों को अन्वेषण करना चाहिए।

(घ) पाठालोचन—यह एक गम्भीर और कठिन अध्ययन है। शायद यही कारण है कि इसमें आधुनिक विद्वानों में से डा. माताप्रसाद गुप्त, डा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि लोगों ने ही कार्य करने का साहस किया। बहुसंख्यक शोधार्थी इस दिशा में ताकना भी कठिनाई को निमन्त्रण देने के बराबर समझते हैं। शोधार्थियों के लिए यह कार्य-दिशा बड़ी समृद्ध है। सूरदास, कबीर जैसे महान कवियों की रचनाओं का पाठालोचन या मीरा बिहारी जैसे प्रसिद्ध कवियों का पाठ-निर्धारण नवीन शोधार्थियों के विषय बन सकते हैं। आधुनिक कवियों के काव्यों में भी पाठालोचन का अवकाश मौजूद है। अज्ञात कवियों की रचनाओं की हस्तलिखित लिपियां एकत्रित करके उनके पाठ निर्धारण का कार्य भी अपनाया जा सकता है, किन्तु इस ओर शोधार्थियों की रुचि बढ़ाने के लिए कोई ऐसा कदम उठाने की अपेक्षा है जिससे परिश्रम के प्रति शोधार्थी की घबराहट का शमन और कठिनाइयों से जूझ जाने की शक्ति का उदय सम्भव हो सके।

(ङ) लोक साहित्य—लोक साहित्य का समूचा कार्य क्षेत्रीय होता है, इसलिए टेबल-वर्क के उपासक शोधार्थी उस ओर मुंह नहीं उठाते। शायद इसी कारण यह क्षेत्र भी काफी अछूता रह गया है। हमारा सुझाव है कि लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोक कथाओं, लोक-गीतों लोक-अपवादों, लोकोक्तियों मुहावरों आदि के अध्ययन की महती आवश्यकता है। कोई सूझवान शोधार्थी जब इस ओर बढ़ता है, तो वह इस साहित्य के अन्तर्गत लोक संस्कृति, चिन्तन और गहन धारणाओं को खोजने का उपक्रम कर सकता है। यह सही है कि लोक-साहित्य की सामग्री संकलित करने के

लिए शोधार्थी को धन, जन का बाहरी बल और स्वयं अपना मनोबल अपेक्षित होते हैं। सूचक बिना धन के बात नहीं करता, थोड़ा भी उखड़ जाए तो समूचे कार्य पर पानी फेर देता है। फिर भी यदि मनोबल ऊँचा हो और अभिरुचि सुदृढ़ हो तो शोध का यह क्षेत्र उपयुक्त हो सकता है।

(च) भाषा गत शोध—हिन्दी साहित्य में शोध की दशाओं को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि शोधकों की रुचि भाषा में नहीं रही। भाषा-सम्बन्धी शोध प्रबन्धों की गणना की जाए तो सम्भवतः साहित्यिक शोध-प्रबन्धों की संख्या से दसवां भाग भी नहीं मिलेंगे। अतः स्पष्ट है कि इस दिशा में शोध की सम्भावनाएं मौजूद हैं। हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले शब्दों मुहावरों तथा भाषाकीय शब्द निर्माण के अध्ययनों की खूब प्रतीक्षा है। हिन्दी में विदेशी शब्दावली, हिन्दी के कहानीकारों, कवियों, उपन्यासकारों आदि के द्वारा प्रयुक्त शब्दावली और प्रत्येक शब्द के अलग-अलग बिम्ब और परछाइयां भाषागत अध्ययन का आधार हो सकती हैं। व्याकरण का कोई भी अंग—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया विशेषण, कारक, विभक्तियां या सन्धि, समास के नियम—अध्ययन क्षेत्र का विषय हो सकता है। हिन्दी की उपभाषाओं अथवा हिन्दी के चेतना प्रवाह के अन्तर्गत आने वाली अवधी, ब्रज आदि भाषाओं पर अभी नवीन शोध का कितना ही अवकाश मौजूद है। शोधार्थियों को इस दिशा में अन्वेषण करने की आवश्यकता है और हमारा विश्वास है कि यह क्षेत्र अभी अनेक शोधार्थियों का बौद्धिक पोषण कर सकता है।

(छ) साहित्य के काव्य रूपों, वादों तथा प्रवृत्तियों के अध्ययन यह क्षेत्र अछूता तो नहीं कहा जा सकता तथापि इसमें अभी ऐसे पहलू उपलब्ध हैं, जिन पर पर्याप्त शोध नहीं की गई। काव्य प्रवृत्तियों में सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव और प्रसार तथा अन्य आन्दोलनों के अध्ययनों को आधार बनाया जा सकता है। काव्य-रूपों के स्वतन्त्र अध्ययन अभी अपेक्षित है। वादों की विशेषताओं की जांच-परख तो हुई है, किन्तु साहित्य के किसी भी अंग के वाद की परिधि में चला आने से क्या-क्या कठिनाइयां सम्भावित हैं इस पर अभी कोई विशेष अनुसंधान नहीं हो सका। इन्हीं सम्भावनाओं का अन्वेषण किया जा सकता है। पुस्तक के प्रथम खण्ड के अन्त में शोध की सम्भावनाओं के अन्तर्गत हमने अन्य अनेक विषय सुझाए हैं। शोध-जिज्ञासु उन क्षेत्रों में भी गति पा सकते हैं।

(iii) विषय की रूप-रेखा/अध्ययन-योजना—शोध-छात्र द्वारा शोध विषय का निर्णय कर लिया जाने पर अब उसे अपने विषय से सम्बन्धित अध्ययन-योजना तैयार करनी होती है। इसे विषय की रूपरेखा, विषय-सूची अथवा सिनॉप्सिस भी कहा जाता है। शोध सम्बन्धी अध्ययन को व्यवस्थित, सीमित एवं स्पष्ट करने के लिए उक्त रूप-रेखा की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में सुचारु अध्ययन कठिन

हो जाता है। अनुभव-हीन शोधार्थी किसी भी स्तर पर बहक सकता है, डिग सकता है, इसलिए निर्देशक की सहायता से उसे विषय-चयन के तुरन्त बाद रूप-रेखा तैयार कर लेनी चाहिए। यह सही है कि कार्यारम्भ में तैयार की गई रूप-रेखा स्थायी और अपरिवर्तनीय नहीं होगी---अध्ययन की प्रगति के साथ-साथ उसमें अनेक परिवर्तन सम्भावित हो सकते हैं, किन्तु शुरुआत में अपने को साध्योन्मुख एवं व्यवस्थित बनाए रखने के लिए विषय को रूपायित कर लेना अनिवार्य होता है। रूप-रेखा में प्रायः शोधार्थी अपना अध्ययन-क्रम निश्चित करता है। अध्यायों का विभाजन, प्रत्येक अध्याय में दी जाने वाली सम्भावित सामग्री, सामग्री के अनुशीलन का क्रम आदि रूप-रेखा के विषय हैं। आरम्भ में विषय-प्रवेश के लिए पृष्ठभूमि या पूर्व ज्ञान का संकेत भी सहायक होता है। अन्त में निष्कर्ष निकालते हुए अध्ययन की कतिपय स्थापनाओं और मूल योजना में दी गई सामग्री का संक्षेप प्रस्तुत किया जाता है। यही सब समुच्चय रूप में विषय की रूप-रेखा कहलाता है।

अध्ययन-योजना शोध-पथ पर एक अनिवार्य अंग है। कुछ विश्वविद्यालयों में तो पंजीकरण-आवेदन के साथ ही विषय की रूप-रेखा की माँग की जाती है। उक्त माँग के लिए यह अपरिपक्व स्थिति है। उस समय तक शोध-जिज्ञासु ने विषय का सुचारु अध्ययन नहीं किया होता, इसलिए रूप-रेखा के दिए जाने योग्य बिन्दु अभी उसके पास एकत्रित नहीं होते। ऐसे में प्रस्तुत की गई रूप-रेखा भी अपरिपक्व और सम्भावित मात्र हो सकती है। फिर भी नियम-पालनार्थ ही सही, शोधार्थी को रूप-रेखा तैयार करनी ही पड़ती है। पूर्व-प्रकाशित शोध-प्रबन्धों की रूप-रेखाओं को देखते हुए शोधक अपने विषय से सम्बन्धित कच्ची पक्की रूप-रेखा तैयार कर लेता है, किन्तु यह रूप-रेखा विशेष महत्त्व की नहीं होती। इसके अनुसार रूप-रेखा का मूल लक्ष्य अध्ययन को व्यवस्थित तथा समायोजित करना भी पूर्ण नहीं होता। इसलिए रूप-रेखा की तैयारी में निजी सामर्थ्य के विभिन्न पहलुओं का ध्यान रखते हुए ही उसका कोई रूप-आकार बनाया जाना समीचीन होगा।

सहज मान्य तथ्य है कि कोई भी व्यक्ति सामर्थ्य से बाहर कार्य नहीं कर सकता। रूप-रेखा यदि गहन और सूक्ष्म हो और शोधार्थी का सामर्थ्य उस गहराई तक पहुँच सकने अथवा उपादेय सामग्री को खोज सकने का न हो, तो शोध-प्रबन्ध तथा शोधक की स्थिति साँप छछूँदर सरीखी हो जायगी। इसलिए आवश्यक है कि शोध-जिज्ञासु अपने सामर्थ्य और क्षमता का सर्वांगीण मूल्यांकन कर लें। उसे कुछ विशिष्ट प्रश्न-चिह्नों को सम्मुख रखकर सामर्थ्य-परिमापन कर लेना चाहिए---1 क्या गहन सामग्री-संकलन के लिए देश अथवा विदेश के विभिन्न पुस्तकालयों में जा सकने के लिए उसके पास पर्याप्त धन है? 2 क्या उसका स्वास्थ्य अपेक्षित श्रम की अनुमति देता है? 3 क्या पारिवारिक जीवन के संघर्षों में बंधा वह उपयुक्त अवकाश निकाल सकता है? 4 क्या चयित विषय-सम्बन्धी सामग्री को उपलब्ध कर सकना उसके बूते में है? 5 क्या शोध-विषय की गहराइयों को वह स्वयं

समझ सका है ? 6 इन गहराइयो मे कुछ उलझन या फिसलन तो नही है ? 7. मनसा, कर्मना तथा आर्थिक दृष्टि से क्या वह विपरीत परिस्थितियों से टकरा जाने को तैयार है ? क्या उसम विफलता का सामना करने की क्षमता है ? ये सभी प्रश्न–चिन्ह्न ऐसी समस्याएं प्रस्तुत करते है, जिनका समाधान शोध–प्रबन्ध के आरम्भ अथवा बीच मे कही खोजना ही पडता है। यथार्थ मे उक्त समाधान खोजने पर ही रूप–रेखा का सही रूप प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसा न होने की दशा मे रूपरेखा दूषित होगी और उसके अनुसार कार्य करना दुष्कर होगा।

सामान्यत जब विश्वविद्यालयीन नियमो के अनुसार पजीकरण आवेदन के साथ रूपरेखा भी प्रस्तुत करनी होती है तो शोधार्थी अपरिपक्व दृष्टि से अक्रमयुक्त अध्ययन विभाजन मात्र ही कर पाता है। उस अध्याय के विस्तार और अपेक्षित सामग्री के व्यवस्थित रूप का ज्ञान नही होता। परिणामत वह व्यर्थ का श्रम तो करता है, किन्तु उद्देश्य की प्राप्ति उसे नही होती। इसके लिए एक साहित्य बानगी देना हम उचित समझते है। एक शोध छात्र को 'समसामयिक हिन्दी उपन्यासकारों की रचनाधर्मी प्रवृत्तिया, विषय दिया गया। इस विषय पर उसे रूपरेखा तैयार करनी थी, जो कि उसने निम्नानुसार की :—

पहला अध्याय भूमिका

दूसरा अध्याय समसामयिक उपन्यासकार और उनकी रचना

तीसरा अध्याय : रचनाधर्मी प्रवृत्तिया,

चौथा अध्याय · समसामयिक औपन्यासिक शिल्प मे परिवर्तन के कारण

पाचवा अध्याय · समसामयिक उपन्यासकारो की रचनाधर्मी उपलब्धि

छठा अध्याय निष्कर्ष

उपर्युक्त रूपरेखा मे शोधार्थी किसी भी अध्याय मे यह सकेत नही दे सकता कि उक्त अध्याय के अन्तर्गत वह किन तथ्यो का अध्ययन प्रस्तुत करेगा। एक बात ध्यान देने की ओर है कि उसने प्रत्येक अध्याय के शीर्षक मे 'समसामयिक उपन्यासकार' शब्द का प्रयोग कर दिया है जो कि विश्व की सभी भाषाओ के उपन्यासकारों पर लागू हो सकता है। शोधार्थी को यहा 'समसामयिक हिन्दी उपन्यासकार' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था। भूमिका में वह कौनसी पृष्ठभूमि देना चाहता है, स्पष्ट नही है। तीसरा अध्याय पूर्णत अस्पष्ट हो गया है, क्योकि उसमे 'रचनाधर्मी प्रवृत्तिया' के शीर्षक के अन्तर्गत पुन उपन्यासकारो का नाम या वर्ग अनुपलब्ध है। निश्चय ही इस प्रकार की रूपरेखा अनाधारित, अव्यवस्थित और अपूर्ण होती है। शोधार्थी के लिए रूपरेखा को अधिक विस्तार से तैयार करना अपेक्षित है। ऐसा करने से अध्ययन करते समय आने वाले परिवर्तनो को रूपरेखा मे समजित करना सुगम

हो जाता है । अन्यथा बाद मे अध्ययन की अपेक्षा के अनुरूप परिवर्तन न हो सकने से समूचे किए कराए कार्य पर मसिपोत देने के समान स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं । शोध विद्यार्थियो के पथ-प्रदर्शन के लिए हम उपर्युक्त शोध विषय की रूपरेखा का सही चित्र यहा प्रस्तुत करते हैं —

पहला अध्याय भूमिका समसामयिकता और आधुनिकता, क्या आधुनिक बोध की तरह समसामयिकता भी एक बोध है ? समसामयिक शब्द अपनाने के कारण, समसामयिक उपन्यासकार कौन ? हमारी मान्यतानुसार समसामयिक कालावधि और समसामयिक हिन्दी उपन्यासकारो की की सूची ।

दूसरा अध्याय हिन्दी औपन्यासिक प्रवृत्तियो मे रचनाधर्मी प्रवृत्तिया स्वरूप और स्थान । रचना धर्मी प्रवृत्ति तथा रचना सिद्धान्त भेद । हिन्दी उपन्यास साहित्य मे परिवर्तनशील रचनाधर्मी प्रवृत्तिया । हिन्दी के समसामयिक उपन्यासो म बदलते हुए शैल्पिक मान ।

तीसरा अध्याय हिन्दी के समसामयिक उपन्यासकार तथा उनकी रचनाए । हमारा आलोच्य क्षेत्र । रचनाओ का प्रवृत्तिजन्य वर्गीकरण । हिन्दी के समसामयिक उपन्यासकारों की रचनाधर्मी प्रवृत्तिया-स्थापित प्राय स्थापित और विस्थापित । उनमे शैल्पिक मौलिकता ।

चौथा अध्याय हिन्दी के समसामयिक उपन्यासकारो का सरचना-परक अध्ययन कथ्य गत तत्त्व—वर्णन, विवरण घटना, गति, जीवन की कठोरता आदि । भाषा गत तत्त्व—शब्दावली, मुहावरे आदि । तकनीक गत तत्त्व—पत्र, डायरी, मनोवि-श्लेषण, अतीत चित्रण, स्वप्न, जीवन के कठोर सत्य आदि । प्रवृत्ति गत तत्त्व—अस्तित्व वाद, व्यक्ति चेतना, मनोविश्लेषणात्मकता, ऐतिहासिक रोमास, राजनीतिक षड्यन्त्र, सामाजिक विसगतियां आदि । सरचनात्मक परिवतन के कारण ।

पाचवा अध्याय विशिष्ट हिन्दी उपन्यासकार एवन् उनके रचना धर्मी प्रयोग कथानक पात्र, वातावरण, बोध, सघर्ष और निष्कर्ष ।

छठा अध्याय हिन्दी के समसामयिक उपन्यासकारो की रचना धर्मी उपलब्धि पूर्व प्रेमचन्द युग, प्रेमचन्द युग एव प्रेमचन्दोत्तर युगा की औपन्यासिक सरचना मे भेद । पाश्चात्य प्रभाव । नवीन औपन्यासिक सिद्धान्तो की अपेक्षा ।

मातवां अध्याय : आधुनिक बोध की देन नई रचना धर्मिता। पुरातन की अपेक्षा नवीन में क्रान्तिकारी परिवर्तन। युगालोक। पुरानी सरणि से हटकर आधुनिक के वास्तव में जीने का प्रश्न। अध्यायों में दी गई सामग्री का संक्षिप्त वर्णन।

(iv) रूपरेखा बनाने की वैज्ञानिक विधि—उचित शोध विषय के सम्बन्ध में रूपरेखा प्रस्तुत करना सचमुच टेढ़ी खीर है। शोधार्थी को इसके कई प्रसंगों प्रत्ययों पर विचार करना होता है और कोई रूपरेखा तब तक सुचारु और सानुकूल नहीं हो सकती, जब तक कि शोधार्थी ने शोध विषय के सम्बन्ध में निरन्तर अध्ययन न प्रारम्भ कर दिया हो। शोधार्थी अध्ययन करते हुए विषय से सम्बन्धित बिन्दुओं का टीप लेता रहे। जब उसे अनुभव हो कि उसके टीप पर्याप्त हो गये हैं, तभी उसे विषय की रूपरेखा बनाने का साहस करना चाहिए। ऐसा करने से विषय सम्बन्धी कतिपय तथ्यों के छूट जाने की संभावना कम हो जाती है।

रूपरेखा तैयार करने के लिए उसे चार भागों में विभाजित कर लेना श्रेयस्कर होता है 1 भूमिका 2 मूल अध्ययन योजना 3 निष्कर्ष 4 परिशिष्ट। यों, तो भूमिका का नाम मूल योजना के पहले आता है, किन्तु इसे सही अर्थों में मूल योजना को लिख लेने के उपरान्त ही स्थापित किया जा सकता है। कारण स्पष्ट है, मूल अध्ययन योजना में जो कुछ हम लिख देते हैं, उसी की पृष्ठभूमि भूमिका में होती है। हम पृष्ठभूमि के अनुसार अपने आगामी आलेख को तैयार नहीं कर सकते। फिर भी क्योंकि भूमिका पहले अध्याय का स्थान ग्रहण करती है, इसलिए उसमें उन सभी पृष्ठभूमि सम्बन्धी तथ्यों का संकेत देना उचित ही होगा है, जिनसे सम्बन्धित हमारा आगामी अध्ययन मूल योजना के रूप में प्रस्तुत किया जाने वाला होता है।

मूल अध्ययन योजना रूपरेखा का दूसरा अंग होता है। सच पूछिए तो शोध विषय का समूचा शरीर अनुशीलन, परीक्षण और अन्वीक्षण के माध्यम से इसी में सिमटा रहता है। यही कारण है कि यह अंग अनेक अध्यायों में बांटा जा सकता है। ध्यातव्य है कि मूल अध्ययन योजना में आने वाले अध्याय एक विशेष क्रम में शोध विषय के सर्वांगीण अनुशीलन को प्रस्तुत करते हैं। सम्भव है कि विषय सम्बन्धी समूची सामग्री एक ही समय प्राप्त न हो सकने के कारण किसी अध्याय का कोई अंश अधूरा रह जाए। किन्तु इस तथ्य से शोधार्थी उन्मुक्त नहीं हो सकता कि उसे सम्भावित सामग्री को अध्यायों में बांटते हुए उपलब्ध और सम्भावित दोनों पहलुओं को ध्यान में रखना होता है। ऐसा न करने से उसकी अध्ययन योजना अव्यवस्थित हो सकती है और वह अपने कार्य में अधिक प्रगति करने में असमर्थ रह सकता है।

निष्कर्ष तीसरा अंग है। रूपरेखा में निष्कर्ष का कार्य समूची विषय-वस्तु के अध्ययनोपरान्त शोधक की स्थापनाओं को, मौलिक उपलब्धियों का तथा पूर्व अध्यायों में कही गई व्याख्या को संक्षेप में प्रस्तुत करना होता है। प्रायः निष्कर्षों में शोधार्थी

अध्यायगत सार-कथन कर देते हैं और इसी को उपसंहार मान लिया जाता है, किन्तु यह पर्याप्त नही है। शोधार्थी को निष्कर्ष का सही परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करना होता है और ऐसा न कर सकने से वह समूची अध्ययन योजना के प्रति अन्याय कर बैठता है।

कुछ ऐसे तथ्य भी होते है जिनकी व्याख्या अध्ययन योजना के अन्तर्गत कोई स्थान प्राप्त नही कर सकती। ऐसे तथ्यो को रूप रेखा के चौथे अ ग परिशिष्ट मे स्थान दिया जाता है। पुस्तको की सूचियां भी परिशिष्ट मे लगाई जाती हैं। इनमे एक सूची आलोच्य ग्र थो की हो सकती है और दूसरी सहायक ग्रन्थो की। कतिपय *स्थितियो मे आलोच्य ग्रन्थों की सूची की आवश्यकता नही होती। ऊपर समसामयिक* हिन्दी उपन्यासकारो की रचनाधर्मी प्रवृत्तियो की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, उसमे आलोच्य ग्रन्थो की सूची और सहायक ग्रन्थो की सूची दोनो अपेक्षित हैं।

वैज्ञानिक विधि मे बनाई गई रूपरेखा के एकाधिक भेद हो सकते हैं। यदि आकार के आधार पर विचार किया जाए तो संक्षिप्त रूप रेखा भी बनाई जा सकती है और विस्तृत रूपरेखा भी तैयार की जा सकती है। प्रायः लोग मान लेते है कि आलेख के प्रत्येक शीर्षक को यदि क्रम से प्रस्तुत कर दिया जाये, तो वह संक्षिप्त विषय सूची होती है। यदि प्रत्येक शीर्षक के साथ उपशीर्षको और पार्श्वशीर्षको को भी ले लिया जाए तो विस्तृत रूपरेखा तैयार हो सकती है। किन्तु यह एक दूषित दृष्टिकोण मात्र है। वास्तव मे विस्तृत रूपरेखा और संक्षिप्त रूपरेखा मे मूल अन्तर विषय की गहनता और सूक्ष्मता का होता है। यदि विषय गहन है तो उसकी रूपरेखा विस्तृत होगी और यदि वह सामान्य स्तर का है और उसमे केवल ऐतिहासिक जानकारी की ही अपेक्षा होती है, तो रूपरेखा संक्षिप्त हो जाती हैं। यही कारण है कि हम ऐसी *रूपरेखाओ को, जो सामान्य विषय दिखाने वाली होती हैं, महत्त्व नही देते।*

ध्यान रहे कि शुरुआत मे बनाई गई रूपरेखा मे परिवर्तन की सम्भावना सदैव बनी रहती है। ज्यो ज्यो अध्ययन आगे बढ़ता है हमारे सामने अनेक ऐसे बिन्दु उभरते चले जाते हैं, जो रूपरेखा बनाते समय अज्ञात थे। इन बिन्दुओ का महत्त्व स्पष्ट होने ही हम महसूस करते हैं कि रूपरेखा में उन्हे स्थान मिलना चाहिए था। इसी दृष्टि से धीरे धीरे परिवर्तन के साथ-साथ विस्तार भी आता है। तात्पर्य यह कि शोध विषय से सम्बन्धित अध्ययन योजना एक अस्थायी व्यवस्था होती है, जिसके अनुसार शोधार्थी विषय-प्रतिपादन की ओर उन्मुख होता है। विषय-प्रगति के साथ साथ अस्थायी बोध स्थायित्व ग्रहण करते चलते हैं और कभी कभी अन्त तक पहुचने पहुचते शुरु मे बनाई गई रूपरेखा आमूल परिवर्तित हो जाती है। इस विषय पर चौंकने का कोई अवकाश नही।

1 इसी संदर्भ मे हम यहां एक वैज्ञानिक रूप–रेखा की बानगी प्रस्तुत करते हैं। यह रूप–रेखा इन पंक्तियो के लेखक के ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहिब के सांस्कृतिक मूल्यो *का अनुशीलन'* से सम्बन्धित है और *निम्नलिखित* रूप *शोध–प्रबन्ध की* 'पूर्ति

पर अन्तिम संशोधित रूप कहा जा सकता है। ध्यान रहे कि इसमें विश्लेषण की प्रधानता है—

(i) भूमिका

(ii) उद्देश्य विषय सम्बन्धी पूर्व साहित्य, उसकी अपूर्णता तथा प्रस्तुत शोध का लक्ष्य।

अध्याय एक : विषय-प्रवेश

(क) परिस्थितियां और पंजाब में भक्ति-आन्दोलन

आन्दोलन का उदय
गुरु नानक-आगमन और एक नए आध्यात्मिक प्रवाह का प्रारम्भ
गुरु-वाणी का संकलन : गुरु ग्रन्थ साहिब
गुरु ग्रन्थ साहिब के वाणीकार
वाणी-संकलन की आवश्यकता ?
वाणी के स्रोत
गुरु ग्रन्थ साहिब की प्रामाणिक प्रति
गुरु वाणी का आन्तरिक क्रम
गुरु वाणी का वर्ण्य-विषय

(ख) संस्कृति

संस्कृति की कतिपय परिभाषाएं (पौरस्त्य तथा पाश्चात्य)
सभ्यता और संस्कृति में अन्तर
संस्कृति का क्षेत्र
संस्कृति और पंथ या मत
भारतीय संस्कृति और उनकी विशेषताएं

(ग) सांस्कृतिक मूल्य और उनका वर्गीकरण

गुरु ग्रन्थ साहिब में सांस्कृतिक मूल्य
आन्तरिक (Intrinsic) तथा बाह्य (Extrinsic)

अध्याय दो : भाषा और साहित्य

(खण्ड एक भाषा)

प्रस्तावना जन-भाषा, शास्त्र-भाषा तथा काव्य भाषा
गुरु ग्रन्थ की भाषा में इनका समावेश तथा वैशिष्ट्य
सप्त सिन्धु प्रदेश की तत्कालीन साहित्यिक भाषा
सन्त भाषा—स्वरूप और वर्गीकरण : संस्कृत बहुला, हिन्दी प्रधान, पंजाबी प्रधान, अपभ्रंश प्रधान तथा मराठी सम्पृक्त।

लेख मे मात्राए देने की विशिष्ट पद्धति
कतिपय दोष
प्रतीक योजना
विविध मुहावरे, लोकोक्तिया, सूक्तिया, गर्वोक्तिया एव उलटवासिया।

(खण्ड दो साहित्य)

प्रस्तावना : साहित्य का परम्परागत उद्देश्य
साहित्योद्देश्य . ग्र थगत रूप
गुरु ग्र थ साहित्य का विषय
गुरु ग्र थ साहित्य मे छद योजना
(छन्द तालिका)
सगीतात्मकता
गुरु ग्र थ मे अलकार-योजना : वर्गीकरण तथा ग्र थगत प्रयोग
शैली गुरु ग्र थ शैली के विशिष्ट गुण
ध्वनि परम्परागत तथा गुरु ग्र थगत
रस : प्रेम-भावना, माधुर्य, भक्ति-तत्व, माधुर्य-भाव-सम्पन्न भक्ति रस स्वरूप, ग्र थ मे आलम्बन और आश्रय के स्वरूप, रस की साधन एव सिद्धावस्था, रहस्यवाद का स्वरूप।
अन्य रस अथवा भाव तथा काव्य-गुण
विविध . पौराणिक तथा ऐतिहासिक सदर्भ एव कल्पना-सृष्टि।

अध्याय तीन : कला

प्रस्तावना निवृत्ति, विरक्ति तथा निर्गुणोपासना के कारण कला की उपेक्षा।
शब्दोपासना के कारण सगीत
गुरु ग्र थ मे सगीत तथा राग-रागिनियों का ब्यौरा
स्थूल से सूक्ष्म की ओर अन्य कला-बध
वास्तु (झोपडी, महल, धर्मशाला, देवस्थान)
शिल्पकला
सौंदर्य-दृष्टि के रूप नृत्य, नाटक, रग-तमाशे
अन्य रूप ' वादन-यन्त्र, कठपुतली नृत्य

अध्याय चार : दार्शनिक मूल्य

प्रस्तावना
भारतीय दर्शन की रूपरेखा, गुरु ग्र थ वाणी भारतीय चिन्तन का अभिन्न अ ग

(क) ज्ञान मीमासा

1 सत्य का स्वरूप . ज्ञाता तथा ज्ञातव्य की एकता

2 ग्र थ मे सत्य–तत्त्व तथा उसकी जानकारी

3 ब्रह्म (अकाल–पुरुष) एक मे अनेक–निर्गुण, सगुण, अन्य विशेषताए , आस्तिक समस्या, ब्रह्म का स्थान

4 जीव ब्रह्माश, ससार म जीव की दशा, प्रभु से जीव का पति–पत्नी सम्बन्ध और वियोगानुभव पुर्नमिलन–प्रक्रिया

5 माया ब्रह्म की शक्ति, माया का स्वरूप, काल एव माया की व्यापकता, ब्रह्म की त्रिगुणात्मक शक्ति, अज्ञानावरण के रूप मे, मिथ्याडम्बर एव कर्मकाण्ड, रूपको द्वारा माया का स्वरूप–चित्रण, माया और मन, माया से छुटकारा

6 कर्म–सिद्धान्त एव आवागमन कार्यों का नियन्ता, प्रभु, कर्म के प्रकार, यथा कर्म तथा फल आवागमन, भाग्यवादी दृष्टिकोण, आवागमन से मुक्ति, मृत्यु एव मृत्युपरात स्थिति

7 मन तथा ज्ञान स्वरूप तथा विचार

8 दार्शनिक चिंतन :
अद्वैत बनाम सहजाद्वैत, हउमै, गुरु–लब्धि, ज्ञान–प्रकाश, नाम–जाप, सहजावस्था, जीव–मुक्ति, प्रभु–मिलन–प्रक्रिया

(ख) तत्त्व-मीमासा

1 शास्त्रीय दृष्टि से तत्त्व–विचार तथा गुरु ग थ दृष्टिकोण

2 सृष्टि रचना रचयिता

3–4 रचना-प्रक्रिया, एक–अनेक सिद्धात एव पदार्थ–तत्त्व

5 *सूक्ष्म–स्थूल सिद्धान्त*

(ग) आचार-मीमासा

1 भारतीय आचार–दर्शन तथा मध्यकालीन स्थिति

2 सन्तो द्वारा नवीन नैतिक मूल्यो की स्थापना

3 गुरु का स्थान विश्वास एव प्रेम

4 सत्सगति, गुरबाणी–पाठ, कीर्तन, नित्यनेम (दैनिक आचरण–विधान), गुरुद्वारा, अरदास, सेवा

5 सासरिक ऐश्वर्य मिथ्यात्व

6 गुण–वृद्धि . स्वरूप और आचरण

अध्याय पाच : पंथक मूल्य

प्रस्तावना : पथ की कल्पना, परिभाषा और स्वरूप, धर्म और पथ मे अन्तर, मतवादी धारणा, ग्र थ मत • सन्त मत, धर्म तथा उसके प्रकार, ग्र थ में स्वीकृत व्यापक धर्म, ग्र थ के मुख्य धर्म

(क) ईश्वर तत्त्व

1 देव-मण्डल : शास्त्रीय दृष्टिकोण, सन्त दृष्टि मे देवता की उपेक्षा का भाव

2 ईश्वर सम्बन्धी धारणा निर्वैत्तिक बनाम ईश्वर

3 अद्वैतिक ईश्वरवाद : अवतारवाद का विरोध, आस्तिकता के अन्य अ ग

4 ईश्वर की वैयक्तिक कल्पना तथा उसकी मिथक अभिव्यक्ति

(ख) मिथक तत्त्व

1 प्रस्तावना मिथ

2 गुरु ग्र थ मे पौराणिक सदर्भ

(क) पौराणिक प्रतीक

(ख) रामायण तथा महाभारत सम्बन्धी घटनाए और चरित्र ।

(ग) पौराणिक घटनाए

(घ) दानवो का वध

(ङ) मोक्ष लब्ध प्रभु–भक्तो के प्रसग

(च) ऋषि-मुनि प्रसग

(छ) प्राचीन राज-वशो के कथा–प्रसग तथा अन्य पौराणिक पात्र

(ज) भक्त–रक्षार्थ प्रभु–अवतरण (पौराणिक दशावतार)

(झ) भक्तो के ऐतिहासिक एव चमत्कारक प्रसग

(ग) उपासना तत्त्व (पूजा पद्धति)

1 प्रभु–मिलन के परम्परित साधन गुरुमत द्वारा समन्वय (ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग)

2 गुरु ग्र थ की मान्यता

3 गुरु ग्र थ मे योग का स्वरूप हठयोग बनाम सहजयोग

4 नामयोग या नाम–मार्ग

5. गुरु ग्र थ साहिब मे भक्ति–सकल्पना सहज भक्ति, भक्ति का अधिकार किस ? भक्त के लक्षण

6 लोक–धर्म तथा पुरातन विश्वास

7 मूर्ति–पूजा का विरोध

8 धर्मकाण्ड का निषेध तीर्थ, हवन, यज्ञ, व्रत, वेष, पाखण्ड, आदि का विरोध, शरीर की उपेक्षा वर्जित ।
9 पथ वर्ग–भेद विरोध एव औचित्य
(पडित, तपस्वी तथा सन्यासी, योगी, वैष्णव, सिद्ध वाममार्गी तथा शाक्त, भगवती बैरागी, उदासी, मौनी मु डी–कापडिए, रामदासी, सरेवड जैनी–दिगम्बर, श्वेताम्बर, इस्लाम स तमत ।)
10 जाति पाति विरोध एव औचित्य
11 पुरातन सस्कार साहित्य मान्यता
12 ससार की नश्वरता का बन तथा सत्कर्मों की प्रेरणा
13 खाद्य अखाद्य
14 पथ विधि निषेध तथा रहन-सहन
(विधियाँ नाम श्रवण का अभ्यास, गुरु आज्ञा-पालन, प्रभु से रागात्मक सम्बन्ध, ईश्वरी भय म रहना, दुष्कर्मों का त्याग एव सत्कर्मों की स्वीकृति, गृहस्थि माहि उदास, सत्यानुसधान का प्रयत्न, चतुर्लक्ष्य की प्राप्ति, दैनिक वाणी पाठ) (निषेध हउमै भाव, लोक रीतियाँ एव भेद भाव, प्रभु विमुखता, गुरु की निंदा करना एव सन्तो म दोष देखना, मृत्युपरांत रूदन तथा अन्त्येष्टि-औपचारिकताओ का निषेध पवित्रता का ढोग, लोकाचारों, रूढिबद्ध रीति रिवाजो का निषेध, मुहुर्त–शोधन (शकुन–अपशकुन विचार) पितृ–पूजा, श्राद्ध आदि ।
15 विविध पथ चिन्ह–पुरातन तथा नवीन

अध्याय छ : सामाजिक मूल्य

प्रस्तावना धम, पथ और समाज
विभिन्न गुणो वाले लोगो का सहकारी भाव, समाज में जड़ता के कारण, निर्गुणी सम्प्रदायो का उदय और प्रतिक्रिया

1 सस्थागत मूल्य

(क) वर्ण–व्यवस्था वर्ण–विभाजन, अन्य श्रेणियां, मध्यकालीन पतनोमुखी स्थिति

(ख) आश्रम आश्रम विभाजन, चारो मूल्यो की प्राप्ति का आदर्श, सन्तो द्वारा गृहस्थाश्रम म ही चारों मूल्यों की लब्धि की कल्पना । गुण–दोष

(ग) परिवार स्वरूप और रिश्ते–नाते ।

(घ) विवाह विवाहित जीवन, मुहूर्त, सस्कार तथा मिलन, पुरोहित द्वारा दान देना निषिद्ध, विधवा–विवाह ।

2 समाज में स्त्री का स्थान

(क) स्त्री-तत्व : कन्या, पत्नी, विधवा, माता, परिव्राजिका, सन्यासिनी, ब्रह्मवादिनी, भिक्षुणी, वेश्या तथा गणिका, रक्षिता, पुश्चली स्वैरिणी

गुरु ग्रथमत नारी चित्रण : सुहागिन, ससुराल-आगमन तथा पति-आज्ञा-पालन, कुलटा, पति-विमुख, सर्वोच्च पतिव्रता, विधवा एव बाल-विधवा

(ख) स्त्री के प्रति मध्यकालीन समाज तक का दृष्टिकोण : एक ऐतिहासिक अवलोकन

सफल प्रेमी का दृष्टिकोण : सगिनी, प्रिया

असफल प्रेमी का दृष्टिकोण : निष्ठाहीन, स्वैरचारिणी।

अवधूती दृष्टिकोण माया

गुरु ग्रथ मे स्त्री की मध्यम सम्मान-जनक स्थिति, सती प्रथा।

(ग) यौनाकर्षण मात्र की निन्दा (युग युग से) : सन्तो द्वारा अनुमोदन।

3. वस्त्राभूषण एव शृगार : वस्त्र, आभूषण, सोलह शृगार, मिथ्या शृगार सच्चा शृगार।

4. भोजन-व्यजनादि : छत्तीस, अमृत, षट्रस, मदपान का निषेध

5. क्रीडा और मनोरजन · कुश्ती, जुआ, चौगान, चौपड आदि

6. शिष्टाचार

(क) मित्र-शत्रु : मित्रता, शत्रुता, मित्र, निन्दक मित्र।

(ख) सामाजिक कुरीतिया . सामान्य सामाजिक पतन, लोक-लज्जा, धन-सग्रह, भीख मागना, वेश्या अथवा पर-स्त्री गमन, वेश्या की सन्तान, नारी-आज्ञा-पालन, समाज मे पुरोहित वर्ग का प्रसार।

(ग) सामाजिक न्याय विधान।

(घ) सामाजिक पवित्रता-अपवित्रता। जीवन की सार्थकता-निरर्थकता।

(ङ) सामाजिक नीति-अनीति

नैतिक-कर्म : सत्पथ गमन, कर्म-प्रवृत्ति. पूर्वजो का आदर, परोपकार, दया-करुणा, नम्रता, शिष्ट-भाषण, धर्म-कर्म, सेवादान।

अनैतिक कर्म : सामाजिक दुर्गुण, सामाजिक रक्त-शोषण, मिथ्या चरण, गुरु-विमुखता, मिथ्यात्व, पर-स्त्री सम्बन्ध, स्वार्थ-पूर्ति के लिए प्रभु-भजन, जूठन, साधन-पथ, पर

निंदा, पिशुन-वचन, निर्धन का तिरस्कार, झूठी साक्षी, रिश्वत तथा झगडा, आडम्बर, पराया हक मारना तथा अमानत न लौटाना, तृष्णा, अभिमान, तथा उसका फल, अन्य ।

7 सामान्य जीवन तथा दिन-चर्या

(क) जन-जीवन अज्ञान, सामान्य जीवन, छल-छद्मय जीवन ।

(ख) युग के नाम, नगर आदि

(ग) पर्व त्योहार

(घ) दैनिक प्रयोग की वस्तुएं : रग, जामन, घास की टाटी, घडा, तराजू कपडा, सुई-धागा, सीना-पिरोना, जल-स्नानादि घी, पखा तथा चवर आदि ।

8 विविध

(क) शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य : रोग निदान

(ख) आदर्श सामाजिक, गुरुमुख से अन्तर

(ग) मानववादी दृष्टिकोण

अध्याय सात : स्फुट सास्कृतिक मूल्य

(क) शिक्षा तथा साहित्य

प्रस्तावना शिक्षा, शिक्षा तथा विद्या, विद्या तथा शिक्षक

विद्या के प्रकार, अपराविद्या पराविद्या

विद्याओ का आधुनिक वर्गीकरण

गुरु ग्र थ मे वर्णित विद्याएं, भौतिकी, समय-विभाजन, शरीर-विज्ञान, आयुर्वेद, भाषा और चिन्तन, व्याकरण, अध्यात्म-विद्या ।

शिक्षाएं

पुरातन साहित्यिक सदर्भ

(ख) अर्थशास्त्रीय मूल्य

प्रस्तावना

1 कृषि : गुरु ग्र थ मे कृषि प्रसगो का चित्रण

2 गोरक्षण गुरु ग्र थ मे स्वरूप अप्राप्ति

3 वाणिज्य ।

(क) व्यापार (ख) उद्योग-धधे, वैद्यक, चोरी तथा तस्करी, धानक, झीवर, नौकर-चाकर, वेश्यालय के दलाल, सराफ तथा सुनार, जुलाहा, भाट,

केवट, तथा सतरण, शिकारादि । (ग) अधिकोषण मुद्राएं, कर-विधान, ऋणदान-ग्रहण । (घ) श्रम, श्रमिक वर्ग तथा पारिश्रमिक ।

4 समान आर्थिक वितरण : समाजवादी दृष्टिकरण (त्याग से समत्व बनाम ग्रहण मे समत्व)

(ग) राजनीतिक मूल्य

प्रस्तावना : कल्पना और परिभाषा

राज्य के अ ग : स्वामी, आमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना, मित्र

1 राजा तथा आमात्यगण : राजा के कर्तव्य, रक्षण, पालन, रजन ।
राज्य के प्रकार : एकतान्त्रिक, राजतान्त्रिक, गणतान्त्रिक ।

(क) गुरु ग्र थानुसार आदर्श राजा तथा पच-प्रधानता

(ख) शासनाधिकारी तथा अन्य कर्मचारीगण

(ग) शासकीय अत्याचार

(घ) रामराज्य का महत्त्व ।

2 राष्ट्र देश-प्रेम

3 दुर्ग दुर्ग-वर्णन

4 कोष कर तथा न्याय-विधान

5 बल अथवा सेना : देश मे अव्यवस्था एव युद्ध, युद्ध-वर्णन तथा युद्ध-सामग्री, वीर-भावना ।

6 मित्र ।

(घ) भौगोलिक मूल्य

प्रस्तावना , भौमिकी तथा भूमि-विज्ञान

1. भौतिक प्रकृति तथा मूल प्राकृतिक बिम्ब

2 भौगोलिक सज्ञाएं

(क) जल-वायु : ग्र थ मे ऋतु-चित्रण

(ख) वनस्पति तथा धातुएं

(ग) पशु-पक्षी तथा कीट पतग

(घ) काल-विभाजन

(ङ) ग्रह-चर्चा ।

(ङ) ऐतिहासिक मूल्य

प्रस्तावना : सस्कृति का संरक्षक इतिहास

गुरु ग्र थ में ऐतिहासिक सदर्भ

अध्याय आठ : उपसंहार

1 पुरातन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना
2 तन्मत का सामाजिक विधान : वर्ण व्यवस्था का विरोधी नहीं, जन्मगत विकृत व्यवस्था का विरोध।
3. व्यावहारिक जीवन में सत्य एवं नैतिकता
4 विश्व–भ्रातृत्व एवं मानववाद

परिशिष्ट आदि

(v) सामग्री संकलन—अध्ययन योजना या शोध विषय की रूपरेखा तैयार हो जाने पर अगला चरण सामग्री संकलन का होता है। सामग्री-संकलन एक वैज्ञानिक कार्य है, विशेषतः प्रयोग शोधार्थी के लिए प्रायः उलझन बन जाया करते हैं। निर्देशक का सामग्री-संकलन का आदेश पाते ही यदि शोधार्थी विषय से सम्बन्धित सामग्री का अन्धानुकरण करने लगे और उपयोगी अनुपयोगी की जांच किये बिना उसे टीप करता चले तो कुछ ही समय में उसके पास इतना वृहद् सामग्री कोश एकत्रित हो जायगा कि वह स्वयं उसी में खो जायगा कि वह स्वयं उसी में खो जाय, तो कोई अचम्भा न होगा। फाइल के रूप में अधिक टीप जुटा लिया जाय, तो उससे सही दिशा में लाभ उठाना दुष्कर हो जाता है, इसलिए आवश्यक है कि शोधार्थी को सामग्री संकलन के ढंग सिखाए जाय, प्राप्ति के स्रोतों का संकेत दिया जाय और और फिर उक्त एकत्रित सामग्री का उपयोग करना बताया जाय। नीचे इसी दृष्टि से हम तथ्यों की व्याख्या करेंगे।

क–सामग्री-संकलन के स्रोत—इस दिशा में मूल प्रश्न सामग्री-संकलन के स्रोत जानने का होता है। स्रोतों की दिशा में स्थान, संस्थाएँ, व्यक्ति और पुरातत्व, सभी सहायक हो सकते हैं। साहित्यिक शोधक के लिए यदि हम स्रोतों का वर्गीकरण करें, तो इन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है। 1 प्राथमिक कोटि के स्रोत 2 मध्यम कोटि के स्रोत एवं 3 सहयोगी कोटि के स्रोत। प्राथमिक स्रोत वे मूल आलोच्य रचनाएँ होती हैं, जिनके सम्बन्ध में साहित्यिक शोध का विषय चयन किया गया है। किसी कवि, साहित्यकार युग, प्रवृत्ति अथवा वाद का अध्ययन करते हुए उक्त साहित्य (कार या कवि को), अथवा वाद या प्रवृत्ति के घेरे में आने वाली, समस्त रचनाएं प्राथमिक स्रोत के अन्तर्गत आएंगी। यथा कविवर जयशंकर प्रसाद की रचना का अनुशीलन करते हुए उनकी सब पुस्तकें—कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध–आलोच्य ग्रंथ होने के नाते प्राथमिक स्रोत होंगी। शोधार्थी को सामग्री संकलन-अभियान का आरम्भ इसी स्रोत से करना चाहिए। इसी के अध्ययन से शोधक को विषय का तथ्यात्मक ज्ञान होता है, इसीके विश्लेषण से उसे रचयिता की जीवन-दृष्टि

का बोध होना है इसी के सही परिप्रेक्ष्य में वह साहित्यकार की मूल चेतना को पकड़ने में असमर्थ हो सकता है।

माध्यमिक कोटि के स्रोत विषय सम्बन्धी समालोचनात्मक ग्रंथों को कहा जा सकता है। ये ग्रंथ मूल विषय और उसके अनुशीलन के बीच की खाई को पाटने का कार्य करते हैं। इन्हें सहायक ग्रंथ भी कहा जा सकता है। इनमें समालोचनात्मक ग्रंथों के अतिरिक्त कोश ग्रंथ, विश्वकोश, साहित्य कोश, पुराण, पुरातत्व सम्बन्धी कोश, प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं की शृंखलाएं एवं विशेषांक आदि भी सम्मिलित हैं। इन स्रोतों से शोधार्थी की समस्याओं का समाधान तो होता ही, साथ ही इनका अध्ययन करते हुए कभी कभी कतिपय नवीन विचार उदभावनाएं और स्पष्टीकरण के बिन्दु उभरते रहते हैं। इन बिन्दुओं की उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए क्योंकि इनके आधार पर विषय की रूपरेखा में परिवर्तनों की सम्भावना हो सकती है। प्रकाशित ग्रन्थ अधिकतर पुस्तकालयों में उपलब्ध हो जाते हैं। साधारण कोटि के पुस्तकालयों में यदि अपेक्षित पुस्तकें न भी मिलें, तो दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई आदि महानगरों के राष्ट्रीय स्तर के पुस्तकालयों से ग्रंथ उपलब्ध किए जा सकते हैं। कलकत्ता का राष्ट्रीय पुस्तकालय तथा दिल्ली का संसद पुस्तकालय ऐसी संस्थाएं हैं, जहां भारतवर्ष में प्रकाशित किसी भी भाषा का कोई भी ग्रन्थ प्राप्य होना अनिवार्य है। या प्राच्य शोध संस्थान, नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाओं में भी हिन्दी साहित्य सम्बन्धी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इस सामग्री का प्रयोग करते हुए कदाचित एक ही समय अनेक मत सामने आते हैं, शोधार्थी का कोई मौलिक मत भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि उपलब्ध सभी मतों को शोधक इन ग्रन्थों से समझ सकता है और बिना किसी मत का खण्डन किए अपनी मौलिक उद्भावनाओं के आधार पर निजी मत की प्रतिष्ठा कर सकता है। खण्डन करना कोई स्वस्थ प्रक्रिया नहीं है। शोधार्थी को चाहिए कि वह दूसरे के मत की सार्थकता को समझे और उसके अनुसार अपनी दृष्टि का उल्लेख करे। कोई मत निरर्थक नहीं होता दृष्टि भेद हो सकता है।

प्रसिद्ध प्रकाशित ग्रन्थ, जो मध्यम कोटि के स्रोत कहे जा सकते हैं, पुस्तकालयों में उपलब्ध हो जाते हैं। पुस्तकालयाध्यक्ष यदि प्रशिक्षित और सौजन्य पूर्ण हो तो वह आपका शोध विषय जानकर स्वयं आपको सहायक ग्रन्थों की एक लम्बी सूची तैयार करवा कर दे सकता है, किन्तु भारतीय पुस्तकालयों के व्यवस्थापक शोध परियोजना में कोई रुचि लेते दिखाई नहीं पड़ते। परिणामतः शोधार्थी को स्वयं ही अपने परिश्रम के बल से अपने लिए सामग्री खोजनी पड़ती है। पुस्तकालयों में विषयानुकूल पुस्तकें खोज लेने के लिए पुस्तकालयों की अंकन विधि का किंचित् ज्ञान शोधार्थी को अपेक्षित है। पुस्तकालयों में अंकन विधि की दृष्टि से तीन विधियां प्रसिद्ध हैं। अमेरिका की 'लाइब्रेरी आफ कांग्रेस' की ओर से पुस्तकों के अंकन की एक विशेष परियोजना

चलाई गई थी, जिसे पुस्तकों के वर्गीकरण मे व्यवस्था की दृष्टि से दिये गए विषयगत अंकन कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक विषय के लिए अकार आदि क्रम मे एक वर्ण नियत कर दिया जाता है। उक्त विषय से सम्बन्धित सभी पुस्तकों के ऊपर वह वर्ण सर्वप्रथम अंकित रहता है। जिससे पुस्तक की विषय सूची देखे बिना, यह निश्चित किया जा सकता है कि पुस्तक का विषय क्या होगा। इससे समय और श्रम की व्यर्थता का बचाव होता है। उदाहरणार्थ यदि हमने साहित्य मे केवल समालोचना विषय की ही पुस्तकें देखनी हो, तो वर्ण विशेष के अन्तर्गत सुगमता पूर्वक उन्हे देखा-परखा जा सकता है। पुस्तक अंकन का यह ढग भारत मे प्रचलित नही है।

भारत मे अंकन विधि के दो तरीके अपनाए गए हैं। एक मेल्विल ड्यूई के नाम पर ड्यूईज डेसिमल वर्गीकरण योजना कहलाता है। इसमे विषयगत ढग से कुछ अंक निश्चित कर दिए जाते हैं और प्रत्येक विषय की विभिन्न शाखाओ के लिए उस अंक के साथ दशमलव लगाकर आगे के अंक निश्चित किए जाते हैं। जहां एल सी. योजना मे वर्ण लगाए जाते हैं, वहा ड्यूई योजना मे अंक लगाए जाते है। भारत मे प्रचलित तथा अधिक सम्पुष्ट ढग श्री एस आर रगनाथन की कोलन वर्गीकरण संहिता है। इसमे वर्ण, अंक, विराम चिन्ह आदि सब एक साथ मिश्रित होते हैं, इसीलिए इसे जटिल अंकन (Complex notation) भी कहा जाता है। इस जटिल अंकन का सबसे बडा लाभ यह है कि विषय की शाखाओ, उपशाखाओ, प्रशाखाओ तक विषयो के लिए अंकन निश्चित किया जा सकता है। शोधार्थी को यदि इस अंकन विधान का सामान्य सा ज्ञान हो तो वह बिना किसी उलझन के अपेक्षित पुस्तको को खोज सकता है और उनसे लाभ प्राप्त कर सकता है।

सहायक स्रोतो के अन्तर्गत सरकारी गजेटियर, रिपोर्ताज अथवा प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं की शृंखलाए भी सम्मिलित हैं। ये सब वस्तुए भी प्राय बडे पुस्तकालयो मे उपलब्ध हो जाती हैं। कुछ पुस्तकालयो मे सन्दर्भ विभाग अलग होते हैं और उनमे उक्त सामग्री की न केवल सूचियां ही तैयार रखी जाती हैं, बल्कि पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित लेखो की सूचिया भी मिल जाती हैं। इनसे शोधार्थी का कार्य सुविधाजनक हो जाता है क्योंकि उसे अपने लिए अनुकूल लेखो को ढूढने के लिए पत्र पत्रिकाओं को प्रति पृष्ठ अवलोकन नही करना पडता।

सहायक स्रोतो मे सबसे बडी उपलब्धि प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपिया होती हैं। पाण्डुलिपिया साहित्यिक विधि होने के नाते पुस्तकालयो मे अथवा राज्य संग्रहालयों म सुरक्षित रखी जाती है और प्राय. किसी भी आकाक्षी को भट से दिखा देने में ग्रन्थपालो को दुविधा होती हैं। शोधार्थी की प्रामाणिकता का पता चल जाने पर वे लोग पाण्डुलिपियो के अवलोकन की अनुमति दे देते हैं। हिन्दी साहित्य सम्बन्धी पाण्डुलिपियो के संग्रह-राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी

प्रचारिणी सभा, राष्ट्र भाषा परिषद पटना, व्रज साहित्य मण्डल आदि प्रसिद्ध संस्थाओं में उपलब्ध हैं। जो पाण्डुलिपियां हिन्दी साहित्य सम्बन्धी तो हैं किन्तु देवनागरी से इतर अन्य लिपियों में प्रस्तुत की गई हैं, वे हैदराबाद तंजोर, अहमदाबाद, तिरुपति, पटियाला, पटना आदि स्थानों पर उपलब्ध हैं।

सहायक कोटि के गौण स्रोत सामग्री-संकलन का तीसरा चरण है। इस चरण में वृद्ध लोगों के संस्मरण, साहित्यकारों के पत्र और पुराने साहित्य प्रेमियों से भेंट वार्ताएं शामिल हैं। इन्हें स्रोत के रूप में स्वीकार करना प्रायः जोखिम का काम होता है, क्योंकि कभी-कभी दम्भवश लोग अपना महत्त्व प्रतिष्ठित करने के लिए झूठी साखियां चला देते हैं। फिर भी इन स्रोतों को नगण्य नहीं कहा जा सकता, गौण भले ही कहा जाए। देखा गया है कि साहित्यकारों के पत्रों से युग चिन्तन तथा पारस्परिक खींचा तानी के सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं। पुराने साहित्य-प्रेमी कभी-कभी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करते हैं। जिन साहित्यिकों के साथ वे उठ-बैठे होते हैं, जिनकी सगोष्ठियों में उन्होंने भाग लिया होता है और जिनके साथ उनका हास्य-विनोद का नाता रहा होता है उनके सम्बन्ध में वे प्रारंभिक सूचक सिद्ध होते हैं। प्रतिवृद्ध लोगों से प्राप्त भेंट वार्ताएं भी इसमें सहायक सिद्ध होती हैं। आज भी पुरानी पीढ़ी के लेखकों से बातचीत करके हम छायावादी, प्रगतिवादी या प्रयोगवादी युग को अधिक भली भांति समझ सकते हैं।

(ख) सामग्री संकलन की पद्धतियां—साहित्यिक शोध में सामग्री संकलन की अनेक पद्धतियों का सहारा लिया जाता है। इनमें सर्वप्रमुख पद्धति टीप लेने की पद्धति है। प्रायः देखा जाता है कि शोधार्थी प्रकाशित, अप्रकाशित साहित्य एवम् रिपोर्टों आदि से अपने विषयानुकूल सामग्री के टीप लेते हैं और टीप लेते-लेते एक दीर्घाकार फाईल तैयार कर लेते हैं। आलेख तैयार करते समय उस फाईल में से ही उपयुक्त टीप की खोज निकालना एक समस्या हो जाती है। यों भी कहा जा सकता है कि शोधार्थी पूरा परिश्रम करने के उपरान्त भी अपेक्षित उद्धरण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहता है। अतः टीप लेने के नियमों को समझ लेना आवश्यक है। टीप लेने का सही तरीका इंडैक्स कार्ड तैयार करने का है। इंडैक्स कार्ड एक ऐसा डाक्यूमैण्ट (Document) होता है, जिसमें सामग्री संकलित करते हुए शोधार्थी योग्य सन्दर्भों को अलग अलग करके लिखता चला जाता है। कार्ड पर ग्रन्थ, ग्रन्थकर्त्ता प्रकाशक, प्रकाशन स्थान, संस्करण और प्रकाशन वर्ष तथा सन्दर्भ का पृष्ठ लिखा रहता है और उसके नीचे सन्दर्भ की पंक्तियां, ज्यों की त्यों, उतार ली जाती है। कार्ड सामान्य कागज से मोटा होता है, इसलिए उसे सम्भालना और जांचना भी फाईल के कागजों की अपेक्षा आसान होता है। कार्ड का आकार लगभग 8"×5" का होना चाहिए। जहां एक ही सन्दर्भ में एक से अधिक कार्डों का उपयोग हुआ हो वहां उन पर अंक अथवा वर्ण के चिन्ह लगा दिए जाएं और उन्हें इकट्ठा नत्थी कर लिया जाए, तो

आलेख तैयार करते हुए कार्डों के उपयोग में सुविधा हो सकती है। जिस विषय से सम्बन्धित सन्दर्भ कार्ड पर उतारा गया है, उस विषय का संकेत कार्ड पर लाल स्याही से कर दिया जाना चाहिए, ताकि विश्लेषण और वर्गीकरण करते हुए कार्डों को विन्यस्त करना आसान हो। इस प्रकार कार्डों के ऊपर लिए गए टीप सामग्री संकलन की उत्तम विधि है और इसके द्वारा शोधार्थी को श्रम कम पड़ता है। यह एक वैज्ञानिक विधि है, इसका प्रयोग भाषाकीय साहित्यिक और सामाजिक विज्ञानों की शोध के अन्तर्गत किया जाता है। शोधार्थी ड्राईंग पेपर लेकर प्रदत्त आकार में उसे कटवा सकता है। ध्यान रहे कार्ड पर टीप लेते समय केवल एक ही पार्श्व का प्रयोग होना चाहिए। दूसरा पार्श्व खाली रहने से बार-बार सन्दर्भ देखने के लिए आगे पीछे पलटने की अपेक्षा नहीं रह पाती।

सामग्री संकलन की दूसरी विधि को प्रेक्षण विधि कहा जा सकता है। साहित्यिक क्षेत्र में इसका प्रयोग अधिक महत्व का नहीं, फिर भी साहित्यकारों के जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं को इस विधि से अर्जित किया जा सकता है। जीवित साहित्यकारों के सम्पर्क में रहकर और स्वर्गवासी साहित्यकारों के सम्पर्क में आने वाले जीवित साहित्य प्रेमियों से भेंट आदि से उनके प्रक्षणों को जाना जा सकता है। इस प्रकार साहित्यकारों का प्रेक्षण कर उनसे सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री को रूप दिया जा सकता है।

प्रेक्षण भी प्रायः दो प्रकार का होता है—अनियन्त्रित प्रेक्षण और नियन्त्रित प्रेक्षण। अनियन्त्रित प्रेक्षण में प्रायः साहित्यिक विभूतियों के सम्पर्क में रहा जाता है, उनके साथ उठना-बैठना, खाना-पीना होता है उनकी हर बात ध्यान से देखी सुनी जाती है और शोधार्थी आवश्यक तत्वों को दैनन्दिनी में लिखता रहता है। किन्तु नियन्त्रित प्रेक्षण में शोधार्थी साहित्यकारों के जीवन को दूर से निहारता है और अपने निष्कर्ष निकालता है। इस स्थिति में यह अनिवार्य नहीं है कि शोधार्थी स्वयं साहित्यकार के घर में ही जाकर रहे। इस दिशा में साहित्यकारों की आत्म कथाएं तथा जीवनियां भी शोधार्थी की सहायक हो सकती हैं, जैसे कवि बच्चन की 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' तथा 'नीड़ का निर्माण फिर से' में कवि के जीवन का प्रक्षण उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त दोनों पद्धतियों के अतिरिक्त अभिमत पद्धति तथा प्रश्नावली पद्धति को भी सामग्री संकलन के लिए अपनाया जा सकता है। अभिमत पद्धति को अपनाने के लिए शोधार्थी को पहले से ही कुछ निष्कर्ष निकाल लेने होते हैं और उन्हें बल देने के लिए अन्य विद्वानों का अभिमत प्राप्त करना होता है। वास्तव में यह पद्धति सामग्री-संकलन की पद्धति न होकर संकलित सामग्री की पुष्टि करने वाली है। प्रश्नावली पद्धति सहायक हो सकती है, जिसका विस्तृत ब्योरा हम इसी पुस्तक के प्रथम खण्ड में दे चुके हैं।

(vi) सकलित सामग्री का उपयोग—विभिन्न साहित्यिक स्रोतो से टीप और प्रेक्षण आदि द्वारा जो शोध-सामग्री एकत्रित की जाती है, उसके उपयोग का प्रश्न बडा महनीय है। सचित सामग्री को आलेख की तैयारी म प्रयोग करने के लिए हमे विवेक और ईमानदारी की अपेक्षा होती है। शोधार्थी को इस बात की छूट नही कि वह असयत नीति से सामग्री को उद्धृत करता रहे। उसके लिय यह भी सम्भव नही कि वह दूसरे के मतो कथनो को अपना कह कर चर्चायित करने लगे। माध्यम कोटि के स्रोतो से एकत्रित सामग्री का वर्गीकरण-विश्लेषण अपेक्षित होता है, तभी उसका सही उपयोग हो सकता है। यहाँ उपयोग की तीन मुख्य शर्तों की व्याख्या की जाती है—

(क) एकत्रित सामग्री की प्रामाणिकता की जाँच—यह एक अतीव महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जो सामग्री शोधार्थी ने सहायक ग्रथो, तृतियक कोटि के स्रोतो आदि मे सचित की है, क्या वह सब प्रामाणिक है ? बिना इस तथ्य की जाच किए उक्त सामग्री का प्रयोग दूषित ही नही, गलती-दर-गलती का द्योतक भी हो सकता है। इसलिए उपयोग से पूर्व शोधक को उसकी प्रामाणिकता की जाच कर लेनी चाहिए। प्राय जाच करने योग्य सामग्री कई प्रकार की होती है। प्रथमत वे उद्धरण होते हैं, जो अन्य सहायक पुस्तको मे भी उद्धरण के रूप म ही प्रस्तुत हुए प्राप्त है। ऐसे उद्धरणो को अपने आलेख मे यथातथ्य उद्धृत करना जोखिम का काम है। शोधार्थी इनकी ओर इसलिए आकर्षित होता है, कि वह बिना मूल ग्रथ पढे ही निर्देशक एव परीक्षक पर अपने विस्तृत अध्ययन की छाप बिठाना चाहता है। यह शोधक का दम्भ मात्र है। ऐसे उद्धरणो को प्रस्तुत करते हुए उसे पाद टिप्पणी मे स्पष्ट लिख देना चाहिए कि अमुक उद्धरण अमुक लेखक की अमुक रचना से उद्धृत किया गया है। पुन उद्धरण को मूल से मिलाकर उसकी जाच कर लेनी चाहिए ताकि उसमे मुद्रणादि की कोई अशुद्धि न रह गई हो। मूल ग्रथो—वेदो, शास्त्रो, स्मृतियो, उपनिषदो अथवा प्राचीन इतिहास ग्रथो आदि—के उद्धरणो को मूल ग्रथ मे अवश्य मिलाना चाहिए। किसी एक भेंट वार्ता म की जा सकती है। प्राचीन पाण्डुलिपियो म दिए गए तथ्यो की प्रामाणिकता का परीक्षण भी करना अपेक्षित है। राजाश्रो के दरबारी साहित्य मे उपलब्ध ऐतिहासिक घटनाओ की जाच प्रसिद्ध साहित्कारो या गजेटियरादि से कर ली जानी चाहिए। पुष्पिकाओं मे प्राय मध्यकालीन कवि उलट क्रम मे दिए गए अको मे दिए गए ■को मे रचना काल की बात करते है बहुधा अको को भी प्रतीक रूप म प्रयुक्त करते देखे गए हैं—यथा 1 लिए चन्द्र या सूर्य, 9 के लिए ग्रह, 6 के लिए शास्त्र, 4 के लिए श्रुति या वेद आदि। पुष्पिकाओ से प्रकट रचनाकाल की जाच ऐतिहासिक स्रोतो से भी की जानी चाहिए। पुरातत्त्व विभाग की प्राचीन रिपोर्टें इस क्षेत्र मे बडी सहायक होती हैं।

पूर्व विद्वानो द्वारा निश्चित तथ्य भी कभी-कभी भ्रामक हो सकते है। शोधार्थी

को विद्वान के नाम के प्रति श्रद्धाभाव के कारण आंख मूंद कर इसे स्वीकार नही कर लेना चाहिए। यदि उक्त प्रकार के कथनो की प्रामाणिकता की जाच करने का प्रयास यदा कदा न हुआ होता, तो नवीन साहित्य एव अज्ञात रचयिता कभी प्रकाश मे ही न आए होते। साहित्यतिहास मे पुराने लेखको को सदैव सम्प्रति लेखको ने चुनौती दी है और पुरान सीमित तथ्यो का निरन्तर अभिवृद्धि प्रदान करते हैं। ध्यातव्य यह है कि जो वस्तु स्थिति एक व्यक्ति के लिए अजानी थी, आवश्यक नही कि दूसरा विद्वान भी उससे अपरिचित ही रहे। यही जांच पडताल तो वास्तव मे साहित्य को चिरजीवी एव साहित्यकार को कालजयी बनाती है। आज तुलसीदास को प्रगतिवादी कहा जा रहा है उसकी रचना को सामतीय कहा जाता है, तुलसी-काव्य मे मार्क्स और फ्राइड के प्रभाव खोजने की सार्थक चेष्टाए हो रही हैं। यह सही है कि तुलसी-काव्य आदर्शों और श्रद्धा से अभिभूत होकर लिखा गया है, तथापि उसमे अमुक प्रकार की जांच पडताल कवि को भविष्यजयी बनने के साथ साथ नवीन तथ्यो के प्रति शोधक को जागरूक बनाती है।

सकलित सामग्री की प्रामाणिकता जानने के लिए शोधक अभिमत पद्धति का प्रयोग भी कर सकता है। किसी भी तथ्य की जाच वह उस पर जीवित विद्वानो का अभिमत प्राप्त करके कर सकता है। अभिमत एकत्रित करते हुए यदि मत-वैभिन्य हो, तो शोधक को बहुमत का ही साथ देना अनिवार्य नही होता। अभिमत प्रस्तुत करने वाले विद्वान की स्थिति, विद्वत्ता और उसके कथन का प्रभाव, सब पर दृष्टि रखना अपेक्षित है। कदाचित लघु सख्या का अभिमत अधिक महत्त्वपर्ण और प्रभावी हो सकता है।

प्रमाणिकता की जाच के लिए सकलित सामग्री मे ही कभी-कभी अन्त साक्ष्य से काम चल जाता है। बहिर्साक्ष्य भी सहयोगी हो सकता है। कवि या साहित्यकार सम्बन्धी सकलित सामग्री की प्रामाणिकता जब लेखक की किसी अपनी ही रचना द्वारा सिद्ध हो, तो उसे अन्त साक्ष्य कहते हैं। प्रामाणिकता की जाच यदि रचयिता के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से हो, तो वह बहिर्साक्ष्य कहलाता है।

(ख) सामग्री का उपयोग विवेकपूर्ण उपलब्ध सामग्री म से भी प्रत्येक अ श उपयोगी नही होता। प्रबन्ध का आलेख तैयार करते समय अनेक टीप व्यर्थ प्रतीत होते हैं। उनका उपयोग प्रबन्ध की शोभा न होकर रुकावट बन सकता है। सकलित सामग्री के ढर म यथायोग्य सामग्री की खोज कर लेने म ही विवेक की साधना है। प्राय एक ही समय म सकलित सामग्री अव्यवस्थित हो जाती है। यदि उसके उपयोग से पूर्व अथवा सकलन-समय ही हम उस अध्यायवद्ध कर ले तो सम्भावित अव्यवस्था से बचाव हो सकता है। अन्य विद्वानो के मता कथनो या उद्धरणो को प्रस्तुत करते हुए एक विवेकपूर्ण सीमा निश्चित की जानी चाहिए। दूसरे का कथन अपनी बात की पुष्टि या सहयोग के लिए होना है न कि आलेख की पृष्ठ सख्या बढाने के लिए।

(vi) संकलित सामग्री का उपयोग—विभिन्न साहित्यिक स्रोतो मे टीप और प्रेक्षण आदि द्वारा जो शोध-सामग्री एकत्रित की जाती है, उसके उपयोग का प्रश्न बडा महनीय है। संचित सामग्री को आलेख की तैयारी मे प्रयोग करने के लिए हमें विवेक और ईमानदारी की अपेक्षा होनी है। शोधार्थी को इस बात की छूट नही कि वह असयत नीति से सामग्री को उद्धृत करता रहे। उसके लिय यह भी सम्भव नही कि वह दूसरे के मनो-कथनो को अपना कह कर चर्चायित करने लगे। माध्यम कोटि के स्रोतो से एकत्रित सामग्री का वर्गीकरण-विश्लेषण अपेक्षित होता है, तभी उसका सही उपयोग हो सकता है। यहां उपयोग की तीन मुख्य शर्तों की व्याख्या की जाती है—

(क) एकत्रित सामग्री की प्रामाणिकता की जाँच—यह एक अतीव महत्वपूर्ण प्रश्न है जो सामग्री शोधार्थी ने सहायक ग्रथो, तृतियक कोटि के स्रोतो आदि से संचित की है, क्या वह सब प्रामाणिक है? बिना इस तथ्य की जाच किए उक्त सामग्री का प्रयोग दूषित ही नही, गलती-दर-गलती का द्योतक भी हो सकता है। इसलिए उपयोग से पूर्व शोधक को उसकी प्रामाणिकता की जाच कर लेनी चाहिए। प्राय जांच करने योग्य सामग्री कई प्रकार की होती है। प्रथमत वे उद्धरण होते हैं, जो अन्य सहायक पुस्तको मे भी उद्धरण के रूप में ही प्रस्तुत हुए प्राप्य है। ऐसे उद्धरणो को अपने आलेख मे यथातथ्य उद्धृत करना जोखिम का काम है। शोधार्थी इनकी ओर इसलिए आकर्षित होता है, कि वह बिना मूल ग्रथ पढे ही निर्देशक एव परीक्षक पर अपने विस्तृत अध्ययन की छाप बिठाना चाहता है। यह शोधक का दम्भ मात्र है। ऐसे उद्धरणो को प्रस्तुत करते हुए उसे पाद टिप्पणी मे स्पष्ट लिख देना चाहिए कि अमुक उद्धरण अमुक लेखक की अमुक रचना से उद्धृत किया गया है। पुन उद्धरण को मूल से मिलाकर उसकी जाच कर लेनी चाहिए, ताकि उसमें मुद्रणादि की कोई अशुद्धि न रह गई हो। मूल ग्रथो-वेदो, शास्त्रो, स्मृतियो, उपनिषदो अथवा प्राचीन इतिहास ग्रथ आदि—के उद्धरणो को मूल ग्रथ से अवश्य मिलाना चाहिए। किसी एक भेंट वार्ता मे की जा सकती है। प्राचीन पाण्डुलिपियो मे दिए गए तथ्यो की प्रामाणिकता का परीक्षण भी करना अपेक्षित है। राजाश्रा के दरबारी साहित्य में उपलब्ध ऐतिहासिक घटनाओं की जाच प्रसिद्ध साहित्कारो या गजेटियरादि से कर ली जानी चाहिए। पुष्पिकाओ मे प्राय मध्यकालीन कवि उलट क्रम मे दिए गए अको मे दिए गए अको मे रचना काल की बात करते है बहुधा अकों को भी प्रतीक रूप मे प्रयुक्त करते देखे गए हैं—यथा 1 लिए चन्द्र या सूर्य, 9 के लिए ग्रह, 6 के लिए शास्त्र, 4 के लिए श्रुति या वेद आदि। पुष्पिकाओ म प्रकट रचनाकाल की जाच ऐतिहासिक स्रोतो से भी की जानी चाहिए। पुरातत्त्व विभाग की प्राचीन रिपोर्टें इस क्षेत्र मे बडी सहायक होती हैं।

पूर्व विद्वानो द्वारा निश्चित तथ्य भी कभी-कभी भ्रामक हो सकते है। शोधार्थी

को विद्वान के नाम के प्रति श्रद्धाभाव के कारण आंख मूंद कर इसे स्वीकार नही कर लेना चाहिए। यदि उक्त प्रकार के कथनो की प्रामाणिकता की जाच करने का प्रयास यदा कदा न हुआ होता, तो नवीन साहित्य एव अज्ञात रचयिता कभी प्रकाश मे ही न आए होते। साहित्येतिहास मे पुराने लेखकों का सदैव सम्प्रति लेखको ने चुनौती दी है और पुरान सीमित तथ्यो का निरन्तर अभिवृद्धि प्रदान करते हैं। ध्यातव्य यह है कि जो वस्तु स्थिति एक व्यक्ति के लिए अजानी थी, आवश्यक नही कि दूसरा विद्वान भी उससे अपरिचित ही रहे। यही जांच-पडताल तो वास्तव मे साहित्य को चिरजीवी एव साहित्यकार को कालजयी बनाती है। आज तुलसीदास को प्रगतिवादी कहा जा रहा है उसकी रचना को सामतीय कहा जाता है, तुलसी-काव्य म मार्क्स और फ्राइड के प्रभाव खोजने की सार्थक चेष्टाए हो रही हैं। यह सही है कि तुलसी-काव्य आदर्शों और श्रद्धा से अभिभूत होकर लिखा गया है, तथापि उसमे अमुक प्रकार की जाच-पडताल कवि को भविष्यजयी बनने के साथ-साथ नवीन तथ्यो के प्रति शोधक को जागरूक बनाती है।

सकलित सामग्री की प्रामाणिकता जानने के लिए शोधक अभिमत पद्धति का प्रयोग भी कर सकता है। किसी भी तथ्य की जाच वह उस पर जीवित विद्वानो का अभिमत प्राप्त करके कर सकता है। अभिमत एकत्रित करते हुए यदि मत-वैभिन्य हो, तो शोधक को बहुमत का ही साथ देना अनिवार्य नही होता। अभिमत प्रस्तुत करने वाले विद्वान की स्थिति, विद्वत्ता और उसके कथन का प्रभाव, सब पर दृष्टि रखना अपेक्षित है। कदाचित लघु सख्या का अभिमत अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभावी हो सकता है।

प्रामाणिकता की जाच के लिए सकलित सामग्री म ही कभी-कभी आगत साक्ष्य से काम चल जाता है। बहिर्साक्ष्य भी सहयोगी हो सकता है। कवि या साहित्यकार सम्बन्धी सकलित सामग्री की प्रामाणिकता जब लेखक की किसी अपनी ही रचना द्वारा सिद्ध हो, तो उसे अन्त साक्ष्य कहते हैं। प्रामाणिकता की जाच यदि रचयिता के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से हो, तो वह बहिर्साक्ष्य कहलाता है।

(ख) सामग्री का उपयोग विवेकपूर्ण - उपलब्ध सामग्री मे से भी प्रत्येक अ श उपयोगी नही होता। प्रबन्ध का आलेख तैयार करते समय अनेक टीप व्यर्थ प्रतीत होते हैं। उनका उपयोग प्रबन्ध की शोभा न होकर रुकावट बन सकता है। सकलित सामग्री के ढेर म यथायोग्य सामग्री की खोज कर लन म ही विवेक की साधना है। प्राय एक ही समय म सकलित सामग्री अव्यवस्थित हो जाती है। यदि उसके उपयोग से पूर्व अथवा सकलन-समय ही हम उसे अध्यायवद्ध कर ल तो सम्भावित अव्यवस्था से बचाव हो सकता है। अन्य विद्वानो के मता कथनो या उद्धरणो को प्रस्तुत करते हुए एक विवेकपूर्ण सीमा निश्चित की जानी चाहिए। दूसरे का कथन अपनी बात की पुष्टि या सहयोग के लिए होना है न कि आलेख की पृष्ठ सख्या बढाने के लिए।

इसलिए विवेक की माग है कि हम दो चार पंक्तियो मे ही उद्धरण दें, अपेक्षाकृत लम्बे उद्धरण अथवा कथन अपनी रचना, सूझ एव अभिमत के लिए घातक होते हैं। यहा ध्यान देने की एक बात और है। यदि सामग्री के सकलन मे कोई क्रम न हो, तो उसके उपयोग में भी क्रम का नित्य अभाव बना रहेगा। अत शोध विषय सम्बन्धी सामग्री सकलन का अभियान आरम्भ करते समय ही शोधक को विवक से कार्य लेना चाहिए। अपने निर्देशक से इस सम्बन्ध मे वह आदेश प्राप्त कर सकता है, सामग्री कहा, कब और कितनी सकलित की जानी चाहिए, इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकता है। सामग्री सकलन सम्बन्धी निर्देशक के आदेश पर अन्धा-धुध टीप की फाइलें बनाना आरम्भ कर देना तो डॉक्टर से शरीर मे लौह के अभाव का सकेत पाकर ब्लेड का पैकेट निगल जाने वाली बात है। इस समूची प्रक्रिया में विवेक का विरोध निरन्तर बना हुआ दीख पड़ता है। इसी दृष्टि से अभिभूत होकर हमने सामग्री के उपयोग मे विवेक की शर्त लगाई है।

(ग) सामग्री के उपयोग मे ईमानदारी दूसरो के मत या कथन को अपना बनाकर अपनी भाषा और निजी ढंग म कहना तो लगभग आम हो गया है, किन्तु है यह आपत्तिजनक! आलेख तैयार करते हुए शोधक का कर्तव्य है कि वह किसी भी विद्वान लेखक की एक भी पक्ति अपने प्रबन्ध मे बिना उक्त लेखक या विद्वान का नाम सदर्भ दिए न अपनाए। ईमानदारी की माग तो यह भी है कि किसी विद्वान के अप्रत्यक्ष प्रभाव में कहे कथन को भी शोधार्थी स्पष्ट कर दे। किन्तु होता इससे विपरीत है। शोधार्थी का प्रयास होता है कि वह पूर्वगामी विद्वानो की रचना में से भाषा बदलकर अधिक से अधिक अ श ग्रहण कर ले। कुछ शोधक तो भाषा बदलने का कष्ट भी नही उठाते—यह दीदा-दानिस्ता चोरी है परिणाम यह होता है कि जब चुराने पर ही आए तो कम क्या, ज्यादा क्या! पृष्ठो क पृष्ठ चोरी हो जाते हैं। पिछले दिनो गुरु ग्र थ साहिब सम्बन्धी एक शोध-प्रबन्ध परीक्षणार्थ इन पंक्तियो के लेखक के पास आया हिन्दी के उच्च कोटि के विश्वविद्यालय मे एक प्रतिष्ठित विद्वान के निर्देशन मे प्रस्तुत इस शोध-प्रबन्ध को पढते हुए हमे अपनी ही रचना क पृष्ठो के पृष्ठ हूबहू नकल किये हुए मिले। जहा नकल नहीं थी, वहाँ हमारी रचना के ही समस्त शीर्षकों-उपशीर्षको के अन्तर्गत परिवर्तित भाषा मे व ही भाव पुन प्रस्तुत किए गए थे। पढ कर बडी कोफ्त हुई। दु:ख इस बात का था कि कही भी शोध-कर्त्री ने हमारा या हमारी पुस्तक का नाम तक नहीं लिया था। यह बेईमानी थी, कोई परीक्षक ऐसी चोरी को क्षमा नहीं कर सकता, विशेषकर जब उसे चोरी का स्रोत पता चल जाय और वह प्रबन्ध की सामग्री से मूल से मिलान कर जाच कर ले। ऐसी स्थितियो मे ही सामग्री के उपयोग मे ईमानदारी दरकार है। इसके अभाव मे शोधार्थी कहीं भी लुढक सकता है।

(घ) उपयोग-पूर्व सामग्री का विश्लेषण वर्गीकरण—सकलित सामग्री के उपयोग मे विवक और ईमानदारी की स्थापना के उपरात हमे सामग्री के विश्लेषण-

वर्गीकरण पर भी दो बातें कहनी हैं। विश्लेषण से यहा छटाई का तात्पर्य है। सामग्री मे से सार-सार ग्रहण करना और थोथा उडा देना, उसका विश्लेषण है। सामग्री-सकलन के समय शायद शोधक के पास इतनी फुर्सत नही होती कि वह सार-ग्राही बना रह सके। उस समय तो जो भी रचनी हुई वस्तु स्थिति उसके सम्मुख आई वही उसने टीप ली। उपयोग मे पूर्व एक बारगी उसे विश्लेषण का कार्य निपटाना ही चाहिए। ऐसा न करने से उसका समूचा आलेख प्रभावहीन और व्यर्थप्राय हो जायगा।

व्यर्थ की सामग्री छाटकर सार-सामग्री अलग कर लेने के बाद वर्गीकरण की आवश्यकता होती है। अध्याय क्रम से अथवा उप-विषयो के अनुसार सकलित सामग्री का वर्गीकरण कर लेना समीचीन होता है। ऐसा कर लेने से एक अध्याय के योग्य सामग्री दूसरे अध्याय मे मिश्रित नही होगी, एक जगह प्रस्तुत कर दी जाने पर वही सामग्री किसी अन्य प्रसग मे पुनरावृत्त होने नही पाती और सीमित होने के कारण वर्गीकृत सामग्री की जाच सुगम हो जाती है। वर्गीकरण के उक्त तीनो लाभ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसलिए सामग्री के उपयोग से पूर्व उसका वर्गीकरण कर लेना अनिवार्य है।

अध्याय 9

शोध–प्रबन्ध–लेखन

विषय-चयन किया जा चुका है, रूपरेखा बनाकर सामग्री भी संकलित कर ली गई है। अब समूची सामग्री को नियमतः शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत करना है। इसका बहुत-कुछ अनुमान शोधार्थी पूर्व-लिखित प्रकाशित-अप्रकाशित शोध-प्रबन्धों से लगा सकता है, कुछ स्पष्ट आदेश उसे निर्देशक से प्राप्त होते हैं। यह एक व्यावहारिक कला है, यथा सम्भव हम भी यहां इसकी व्याख्या करेंगे।

(क) शोध-प्रबन्ध की आंगिक व्यवस्था :

इस दिशा में प्रथम ज्ञातव्य यह है कि परीक्षणार्थ प्रस्तुत किया जाने वाला प्रबन्ध कितने अंगों या चरणों में विभाजित होता है। कुछ अंग तो औपचारिक होते हैं, उनका कोई भी रूप गढ़ा जा सकता है, किन्तु अनौपचारिक चरणों की अनिवार्यता को भुठलाया नहीं जा सकता। सामान्यतः अंगों की व्यवस्था निम्न प्रकार से होगी—

1. मुखपृष्ठ — इस पर सबसे ऊपर शोध-विषय का शीर्षक मोटे अक्षरों में लिखा होना चाहिए, तदोपरांत विश्वविद्यालय के नाम के साथ उपाधि का (नाम जिस के लिए शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा रहा है—एम फिल्, पी-एच. डी., डी लिट् आदि) दिया जाता है। उसी के नीचे प्रस्तुती-वर्ष लिखा जा सकता है। प्रस्तुत-कर्त्ता एवं निर्देशक के नाम भी इसी पृष्ठ पर रहते हैं।

2. प्राक्कथन — इस अंग में शोध-कर्ता अपने शोध-विषय का उद्देश्य स्पष्ट करता है। अपने से पूर्व उसी विषय पर हुई शोध की चर्चा करता हुआ वह अपने कार्य की विशिष्टता कहता है एवं अन्त में अपने निर्देशक, अन्य परामर्श-दाता विद्वानों तथा लेखकों के प्रति आभार प्रदर्शन करता है। इसमें पुस्तकालयों-पुस्तकालयाध्यक्षों को भी धन्यवाद दिया जा सकता है।

	यदि प्रस्तत-कर्त्ता चाहे, तो वह किसी प्रभाव या कठिनाई का संकेत यहां करे।
3 संक्षेप चिह्न सूची	(Abbreviations) इसमें लम्बी संज्ञाओं के संक्षेप चिह्न स्पष्ट किए जा सकते हैं।
4. विषय-क्रम	अध्यायों की सख्या, शीर्षक, उपशीर्षक आदि। शोध-प्रबन्ध मे उक्त सामग्री की पृष्ठ-संख्या भी अंकित की जानी चाहिए।
5 विषय-प्रवेश (भूमिका)	विषय की पृष्ठभूमि और उस पर निजी सहयोग की परियोजना।
6 शोध विषय (मूल प्रबन्ध)	एक-एक करके सब अध्याय इसी भाग के अन्तर्गत आएंगे। प्रत्येक अध्याय की विशिष्टता शोध-विषय का ही अलग पहलू होगा। पाद-टिप्पणियां इसी मे सम्मिलित होती हैं।
7 उपसंहार/निष्कर्ष	इसमें उन सभी तत्त्वों की संक्षिप्त चर्चा होती है, जिन पर शोध-विषय के अन्तर्गत समूचे अध्याय लिखे होते हैं। अध्यायक्रम से की गई उक्त चर्चा उपयुक्त होती है।
8 पठित ग्रंथों की सूची	प्रथमांश मे आलोच्य ग्रंथों की सूची तथा द्वितीयांश में सहायक ग्रंथों, कोशों, पत्र-पत्रिकाओं, पाण्डुलिपियों, गजेटियरों, रिपोर्टों आदि की सूची देना अपेक्षित है। ये सूचियां अकारादि क्रम मे होनी चाहिए और ग्रंथ तथा पुस्तक के नाम के साथ प्रकाशक का नाम, प्रकाशन स्थान, प्रकाशन वर्ष एवं संस्करण संख्या भी दी जानी चाहिए।
9 परिशिष्ट, यदि कोई हो	जो बात प्रबन्ध मे नहीं कही गई, किन्तु वह इतनी गौण नहीं, कि उसकी उपेक्षा की जाय।

10 विषयानुक्रमणिका अथवा नामानुक्रमणिका।

11. ऊपर के नौ अंगों से अलग एक ऐसा अंग भी है, जो शोध-प्रबन्ध के अतिरिक्त तैयार करना होता है। कुछ विश्वविद्यालय शोध-प्रबन्ध का 'सार' अलग से प्रस्तुत करने को कहते हैं। 'सार' मे अध्याय क्रम से प्रत्येक अध्याय का संक्षेप देना उचित होता है। 'सार' ऐसा होना चाहिए कि मूल शोध-प्रबन्ध पढे बगैर भी आपकी शोध-परियोजना का प्रत्येक पहलू स्पष्ट हो सके।

उपर्युक्त अंगों मे 1, 2, 3, 8 तथा 9 और 10 क्रम के अंग औपचारिक हैं। आवश्यकता और रुचि के अनुसार इनका ढंग और स्वरूप बदल सकते हैं।

आजकल मुखपृष्ठ में अनेक कलात्मक, डिजाइन, वाई डर लोग सुझाते रहते हैं। उस पर की सामग्री वही रहती है, किन्तु उसके क्रम एवं मुद्रण-सज्जन के द्वारा मुखपृष्ठ को अधिक सुन्दर बनाने के प्रयास किए जाते हैं। कुछ शोधक कर्मशियल आर्टिस्ट्स की सहायता से मुखपृष्ठ को आकर्षक और प्रभावी भी बनाते हैं।

प्राक्कथन शोध-प्रबन्ध की व्यवस्था-कला का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें शोधक 'अपनी बात' कहता है। 'भूमिका' अथवा 'विषय-प्रवेश' में निश्चय ही इसका स्थान पहले आता है। कभी-कभी 'विषय क्रम' आदि अंग इन दोनों के बीच में प्रस्तुत किए जाते हैं, जैसाकि हम ऊपर शोध-प्रबन्ध की अंग-व्यवस्था में लिख चुके हैं। कुछ शोधार्थी प्राक्कथन को 'विषय-प्रवेश' में ही मिला देते हैं। औपचारिक अंग होने के कारण भूमिका में विलीन हो जाने पर भी इसका अभाव खलता नहीं। 'आभार-प्रदर्शन' इसी का पहलू है।

'संक्षेप-चिह्न सूची' की आवश्यकता केवल उन्हीं शोध-प्रबन्धों में होती है जिनमें कुछ दीर्घ संज्ञाओं वाली पुस्तकों के अनेक सदर्भ दिए जाते हैं। ऐसी स्थिति पुस्तक का लम्बा नाम बार-बार लिखने तथा उसके लेखक-प्रकाशक आदि की चर्चा करने की अपेक्षा उसके संक्षेप-चिह्न बना लिए जाते हैं और जब-जब उस पुस्तक का सदर्भ आता है, वहीं 'चिह्न' पृष्ठ,संख्या सहित लिख दिया जाता है। 'हिन्दी विश्वकोश' के लिए 'हि वि' अथवा 'सौंदर्य तत्त्व निरूपण' के लिए 'सौ नि' चिह्न बना लिए जा सकते हैं। ऐसे सब चिह्नों की एक सूची, जिसमें चिह्न के सम्मुख ग्रंथ का मूल नाम व परिचय दिया जाता है, बनाकर शोध-प्रबन्ध के आरम्भ में दी जाती है, ताकि पाठक आवश्यकतानुसार चिह्न को देखकर मति-भ्रम में न पड़े और मूल ग्रंथ से सीधे परिचय प्राप्त कर सके।

'विषय-क्रम' शोध-विषय की रूपरेखा का ही अन्तिम और समापक रूप होता है। रूप-रेखा सम्भावित होती है, प्रबन्ध लिखते समय उसमें अनेक बिंदु जुड़ते चले जाते हैं, उपस्थित प्रकरणों में परिवर्तन आता है और समाप्ति तक पहुचते पहुचते यह रूप-रेखा संशोधित, परिवर्द्धित तथा परिवर्तित होकर 'विषय क्रम (Contents) बन जाती है। पीछे हम द्वितीय अध्याय में रूप-रेखा तथा विषय क्रम की अलग अलग बानगियाँ दे चुके हैं। 'विषय क्रम' में अनेक अध्याय तथा प्रत्यक अध्याय में एकाधिक प्रकरण होते हैं। इनकी व्यवस्था ऐसी चाहिए कि शोध विषय की व्याख्या में कहीं अन्तिरोध न आए। प्रत्येक प्रकरण का सम्बन्ध दूसरे प्रकरण से अटूट होना चाहिए। अध्याय के शीर्षकान्तर्गत आने वाले प्रकरण अनिवार्यत उसी अध्याय के उपशीर्षकों से सम्बन्धित होगे। यदि इनमें कोई व्यवधान हुआ तो विषय क्रम तो होगा ही, साथ ही सामग्री-प्रस्तुतिकरण के स्वाभाविक प्रवाह में विक्षेप आ जायगा।

विषय प्रवेश या भूमिका शोध प्रबन्ध की व्यवस्था कला में अतीव महत्त्वपूर्ण

अ ग है। यह अनौपचारिक तत्त्व होने के कारण विषय परक अनिवार्यता है। इस अ ग मे शोध विषय सम्बन्धी विस्तृत पृष्ठभूमि देने की अपेक्षा होती है, प्रमुख दिशा मे पूर्व-गामी शोध का परिचय देकर शोधार्थी को सिद्ध करना होता है कि वर्तमान परियोजना पूर्वज्ञान मे अभिवृद्धि करने का सकल्प की व्याख्यात्मक रूपरेखा भी इसमे दी जा सकती है। विषय प्रवेश या भूमिका का सम्बन्ध मूल विषय से अटूट होते हुए भी मूल विषय में आत्मसात् नहीं होता। कुछ विद्वानो ने इसे शोध प्रबन्ध का प्रथम अध्याय भी स्वीकार किया है।

विषय प्रवेश मे शोध विषय का सुचारू परिचय प्रस्तुत करने के बाद अध्यायो में विभक्त मूल प्रबन्ध का स्थान आता है। अध्यायो की सख्या आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक हो सकती है, किन्तु बडी सख्या मे अध्यायो की व्यवस्था उचित नही होती। आवश्यकता होने पर हम कम अध्यायो मे ही प्रकरणो की सख्या बढा सकते हैं। अध्यायों और उनके अन्तर्गत प्रकरणो का सुचारू आयोजन कुशल वर्गीकरण पर आश्रित है। प्रकरणो का सहिति परक बनाने के लिए अनुभवी निर्देशन की अपेक्षा होती है, अन्यथा कोई व्याख्या योग्य प्रकरण उपयुक्त अध्याय शीर्षक से छिटक भी सकता है। यह सही है कि प्रकरण की व्याख्या से शोध विषय को उचित विस्तार मिलता है, किन्तु प्रबन्ध मे प्रत्येक प्रकरण का सुयोग्य एव समीचीन अध्याय के अन्तर्गत सही स्थान होना चाहिए। पुन अध्यायगत प्रकरणो को भी एक दूसरे से सम्बद्ध रहने की अपेक्षा होती है। यथास्थान सम्बद्ध एव प्रवाहमान शोध विषयक व्याख्याए ही वास्तव मे अध्यायों के प्राण होती हैं।

शोध सम्बन्धी तथ्यो का सम्बन्ध इन्हीं प्रकरणो मे होता है। डा सरनामसिंह शर्मा का कथन है कि "एक एक प्रकरण किसी तथ्य की एक एक ग्र थि को खोलता है और प्रत्येक तथ्य किसी प्रकरण मे अपना अनावरण करता है।" प्रबन्धकार के सम्मुख अनेक तथ्यो के अनावरण की समस्या होती है। इन्ही तथ्यो का उचित वर्गीकरण करते हुए जब वह प्रकरणो का एक वर्ग अलग कर लेता है, तभी वह वर्ग सही अर्थों मे अध्याय कहलाता है, और कोई समुचित सा शीर्षक उस अध्याय को रूपायित कर देता है। जिस प्रकार तथ्यो की व्याख्या तथ्य-दर-तथ्य परस्पर जुडती चली जाती है, ठीक वैसे ही एक अध्याय की सामग्री दूसरे अध्याय मे शृ खलाबद्ध रहनी चाहिए—इसी मे शोधक का कौशल है। तभी शोध प्रबन्ध एक पठनीय ग्र थ का सही रूप बनता है।

पाद-टिप्पणिया अध्यायो की बीच तथ्यो के साथ-साथ चलती हैं। प्राय मूल आलेख मे 'अ क' लगाकर पाद टिप्पणी मे उसी अ क के सम्मुख उद्धरण प्रस्तुत कर दिया जाता है और वही उसके अन्त मे उद्धृत ग्र थ का नाम एव पृष्ठ सख्या आदि लिख दिया जाता है। कभी उद्धृता प्रारूप के भीतर ही " " लगाकर रख दिया जाता है। इन पर हम अलग स 'उद्धरण तथा सदर्भोल्लेख पद्धति के अन्तर्गत विचार करेंगे।

अध्यायो के उपरान्त उपसंहार तथा परिशिष्ट आदि लिखे जाते हैं। प्रायः शोधार्थी इन्हे व्यर्थ समझकर इनकी ओर अपेक्षित ध्यान नही देते। किन्तु यह एक भ्रम है, ये अ ग भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितना मूल प्रबन्ध। इसीलिए इन अ गो पर भी हम अलग प्रकरणो मे चर्चा करेंगे।

(ख) सामग्री का विभाजन तथा संयोजन :

प्रथम प्रारूप तैयार करने से पूर्व उपयु क्त अ गो की परिधियो का ध्यान रखते हुए हमे समूची सकलित सामग्री का उपयुक्त विभाजन एव सयोजन करना अपेक्षित है। रूपरेखा तैयार करते समय हम सम्भावित अध्यायो के शीर्षक एव अध्याय क्रम विचार लेते हैं। तत्पश्चात् सामग्री एकत्रित करके हम उन्ही शीर्षको के विस्तृत वर्गों मे विभाजित करते है। यह विभाजन बडा व्यापक एव असयत होता है, किन्तु प्रारम्भिक चरण मे इसकी निजी महत्ता है। टीप कार्डों का जब मोटे रूप से अध्यायो के अनुसार बाट लिया जाता है, तब सयोजन का प्रश्न उठता है। अध्यायो मे आने वाले तथ्यो एव प्रकरणो की कडिया मिलाने के लिए, तब, प्रकरणो की छाँटी की जाती है। इस प्रकार पहले सामग्री का अध्यायो मे विभाजन होता है, फिर विभाजित सामग्री के प्रत्येक वर्ग की तथ्यो सम्बन्धी सामग्री का प्रकरण गत सयोजन किया जाता है। यह एक कला है, जो अनुभव और परिपक्वता से प्राप्त होती है। निर्देशक महोदय को इस कार्य मे शोधार्थी का सक्रिय पथ-प्रदर्शन करना चाहिए।

सामग्री के उचित विभाजन और सयोजन के ही लिए पहले शोध-प्रबन्ध का पाण्डुलेख तैयार करना उचित माना जाता है। प्रथम प्रारूप के गम्भीरता-पूर्ण पाठ से पता चलता है कि तथ्य एव अनुरूप प्रकरण यथास्थान लिखे गए हैं, या उनम कोई परिवर्तन अपेक्षित है। द्वितीय एव फाइनल प्रारूप लिखते हुए शोधक को आवश्यक फेर बदल करके सामग्री का ठीक ठीक सयोजन कर लेना होता है। इसमे कोता ही करने वाले शोधक का कभी कभी तीसरी बार भी प्रारूप लिखना पड सकता है।

(ग) उद्धरण तथा सदर्भोल्लेख की पद्धति

शोध प्रबन्ध का आलेख तैयार करते हुए प्राय शोधार्थी के विषय के प्रतिष्ठित विद्वानो के विचारा और विषय सम्बन्धी टिप्पणियो को आवश्यकतानुसार उद्धृत करना पडता है। विद्वानो के विचार जब उन्ही की भाषा म ज्यो के त्यो प्रस्तुत कर दिए जाते हैं तो उन्हे उद्धरण कहते है। प्रत्येक उद्धरण के लिए पाद-टिप्पणी मे सन्दर्भोल्लेख करना पडता है। ये ही दोनो तथ्य यहा हमारे विचार के विषय हैं।

उद्धरण कैसे दिए जाएं ?—शोधार्थी को उद्धरण का चयन करते हुए दो बातो का विशेष ध्यान रखना होता है—एक, उद्धृत व्यक्ति विषय का प्रतिष्ठित

विद्वान हो । दो, उद्धृत विचार शोध विषय से सम्बन्धित और किसी नवीन दिशा का सूचक हो । दूसरी शर्त कभी कभी प्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं में भी देखने को मिल जाती है, उस दशा में नवीनता के सूचक उक्त विचारों को भी उद्धृत किया जा सकता है । उद्धरण गद्य और पद्य दोनों प्रकार के साहित्य से चयित किए जा सकते हैं । इनका चुनाव करने के लिए प्रकाशित अप्रकाशित ग्रन्थ, पत्र-पत्रिकाएं, साक्षात्कार अथवा भाषण आदि के स्रोत उपयुक्त हैं । गद्य हो या पद्य उद्धरण संक्षिप्त तथा विस्तृत दो प्रकार के हो सकते हैं ।

सामान्यत उद्धरण मूल आलेख के अन्तर्गत या विस्तृत होने पर अलग अनुच्छेद में उद्धरण चिन्ह " " लगा कर लिखे जा सकते हैं । दोनों दशाओं में उक्त उद्धरण का स्रोत पाद-टिप्पणी में सन्दर्भ के रूप में दिया जाना चाहिए । संक्षिप्त उद्धरण यदि वे तीन चार पंक्ति तक न हो, आलेख के बीच में ही जैसा कि डा हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है " . ...." के ढग स लिखा जा सकता है । पाद टिप्पणी म ऐसी स्थिति में विद्वान लेखक का नाम देने की अपेक्षा नहीं होती । केवल उसकी रचना का नाम तथा पृष्ठ संख्या दी जा सकती है । पाद टिप्पणी का यह रूप सन्दर्भ-लेखन कहलाएगा ।

यदि उद्धरण विस्तृत हो, तो उस अलग अनुच्छेद बनाना उपयुक्त होता है । अलग अनुच्छेद के रूप में लम्बा उद्धरण प्रत्यक पंक्ति म कम से कम तीन वर्णों का स्थान छोड कर लिखा जाना चाहिए और आरम्भ तथा अन्त में एक पंक्ति की खाली जगह बनी रहनी चाहिए । ऐसा करने से उद्धरण चिन्ह देने की भी अपेक्षा नहीं रहती । उद्धरण के अन्तिम शब्द पर कोई संख्यावाची अ क लगाकर नीचे पाद-टिप्पणी में सन्दर्भ लिखा जा सकता है । पद्यबद्ध उद्धरणों को, यदि वे एक ही पंक्ति हों, मूल आलेख के बीच में ही उद्धरण चिह्न देकर प्रस्तुत किया जाना चाहिए । जैसे मानव जीवन में सन्तोष का इतना महत्त्व है ' जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान ।" यदि पद्य की पंक्तियां दो हों तो भी उपयुक्त ढग से लिखी जा सकती हैं, प्रथम पंक्ति के अन्त और दूसरी पंक्ति के आरम्भ म वक्र रेखा (Oblique) लगा दी जाती है । ध्यान रहे कि विस्तृत पद्यात्मक उद्धरण प्रस्तुत करने के लिए गद्य की ही तरह अलग पद्यांश देना होता है और मूल कविता अथवा कविता पृष्ठ संख्या सहित, सन्दर्भ रूप म पाद टिप्पणी में लिखा जाता है । यदि काव्यांश आवश्यकता से बडा हो तो उसे भावानुवाद करके गद्यात्मक आलेख के साथ कवि के विचार रूप में रखा जा सकता है । कई बार ऐसी स्थितियां भी आती हैं कि हम एक ही विस्तृत उद्धरण में से बीच-बीच की दो एक बात उद्धृत करना चाहते हैं । ऐसे में अनावश्यक स्थलों पर तीन चार बिन्दु लगाकर आगे का अंश लिखा जा सकता है । इस प्रयोग से समय और स्थान की बचत होती है और अनावश्यक सामग्री से शोध प्रबन्ध मुक्त रहता है । कदाचित् कोई ऐसा उद्धरण भी शोधार्थी के सम्मुख आ सकता है जिसमें

कोई तथ्यात्मक भूल हो, ऐसी दशा मे शोधार्थी को भूल सुधारने का अधिकार नही है। उदधरण को ज्यो का त्यो चिपकाते हुए शोधार्थी उक्त अशुद्ध तथ्य के सम्मुख कोष्ठक मे प्रश्न चिह्न लगा सकता है अथवा कोष्ठक मे ही 'असत्य' लिख सकता है।

किसी विद्वान के भाषण के अथवा उससे साक्षात्कार करते हुए टीप किए हुए किसी वैचारिक अ श को भी *उद्धृत किया जा सकता है। ऐसी दशा में* पहली शर्त यह है कि उद्धरणीय अ श पर विद्वान की पूर्व स्वीकृति ले ली जाए। स्वीकृति की अनिवार्यता इसलिए है कि कहीं टिप्पणी की भूल से शोधार्थी विद्वान के विचारो को विकृत रूप मे उद्धृत न करे। इस प्रकार के उद्धरणो के साथ पाद टिप्पणी मे विद्वान का नाम, साक्षात्कार अथवा भाषण की तिथि आदि दिए जाने चाहिए।

कई बार किसी प्रकाशित पुस्तक मे पूर्वोद्धृत अ श को ज्यो का त्यों कोई शोधार्थी पुन उद्धृत करना चाहता है। एसी दशा मे उद्धृत विचार का स्रोत बदलेगा, विचारक नही। शोधार्थी को मूल विचारक के नाम के साथ ही वह उद्धरण प्रस्तुत करना होता है, केवल सन्दर्भ बताते हुए पाद टिप्पणी में वह वर्तमान स्रोत का सकेत दे सकता है, यथा—मूल रचना का नाम उद्धर्ता का नाम उद्धरण चिह्नो मे लिखा गया वर्तमान मूल स्रोत (पुस्तक), का नाम इस क्रम म लिखते हुए अन्त मे 'उद्धृत' सकेत दिया जाना चाहिए।

उदाहरण ऋग्वद 5/3/2/2 डा हजारी प्रसाद द्विवदी द्वारा हिन्दी साहित्य *का आदिकाल' मे उद्धृत* [1]।

यदि उद्धरण किसी एसे ग्रन्थ से लिया जाए जो किसी एक विद्वान द्वारा सम्पादित हो, किन्तु जिसमे अनेक विद्वानो के लेख मोजूद हो, तो सन्दर्भ लेखन की *पद्धति अलग होती है।*

उदाहरण लेखक का नाम, लख का नाम, उद्धरण चिह्नो म पुस्तक का नाम, जिसम लेख सम्पादित है, पृष्ठ सख्या, इसक साथ कोष्ठक 'सम्पादित शब्द लिख कर कोलन (:) लगाया जाता है और सम्पादक का नाम लिखा जाता है।

पाण्डुलिपियो का सन्दर्भ लिखत समय टिप्पणी निम्नानुसार होती है। उदाहरण

कपूरचन्द मिश्रा, रामायण, (पाण्डुलिपि) सख्या 2793, सेन्ट्रल पब्लिक लाइब्रेरी, पटियाला। पत्रा सख्या 10।

पत्र पत्रिकाओं का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हुए, टिप्पणी का उदाहरण डा. मनमोहन सहगल, 'जायसी का नहरानामा', सप्त सिन्धु। वर्ष 11 (जून 1965) पृष्ठ सख्या 21।

---

1. यह कल्पित है, केवल नमूने के लिए दिया गया है।

पत्र-पत्रिका अथवा समाचार पत्र के नाम को लिखित आलेख मे रेखांकित और मुद्रित रचना मे मोटे टाईप मे रखा जाना चाहिए।

किसी गजेटियर या रिपार्ट से यदि उद्धरण लिया गया हो तो उसे निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है -

रिपोर्ट ऑन प्राईमरी एड्यूकेशन, 'पजाब गवर्नमेंट गेजेट' वर्ष 1949, पृष्ठ 324, लोक सम्पर्क विभाग, पजाब।[1]

पाद टिप्पणी मे प्रस्तुत किए उपर्युक्त सदर्भ विशिष्ट स्थितियो का सकेत करते हैं। सामान्य स्थिति मे पाद टिप्पणी बडी सरल और सादा होनी है। बहुधा लेखक तथा पृष्ठ सख्या सहित रचना का नाम ही पर्याप्त होता है। प्रकाशक का नाम तो पाद टिप्पणी म देना कदाचित् अनपेक्षित होता है। 'सहायक ग्र थ सूची' आदि में प्रकाशक लिखा रहता है। पुस्तक का शीर्षक देने स पूर्व लेखक, सम्पादक का नाम देकर अल्पविराम लगाया जाना चाहिए। ध्यान रहे, पाद टिप्पणी मे हम लेखक का नाम सीधा लिखते है, जैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, किन्तु ग्र थ सूची मे इसी को हम उलट देते है। सरनेम पहले आता है—द्विवेदी, हजारी प्रसाद (आचार्य)।

(घ) उपसहार एव उपलब्धि

शोध प्रबन्ध का अध्ययन-क्रम से लिखा गया विषय-पक्ष जहा समाप्त होता है, वहा 'उपसहार' का अ ग प्रस्तुत किया जाता है। समूचे प्रबन्ध मे शोधार्थी ने जिन तथ्यो का व्याख्यात्मक कथन किया होता है, उन्हीं का सक्षेप सार-रूप इस अ ग मे लिखा जाता है। प्रत्येक अध्याय मे शीर्षको-उपशीर्षको के क्रम से तथ्यो का उद्घाटन किया जाता है और अन्तत उन तथ्यो का विश्लेषण-मूल्याकन करते हुए शोधक कोई व्याख्या, परिभाषा, विचारधारा या दृष्टिकोण की स्थापना करता है। ये ही स्थापनाएँ सामूहिक रूप मे उपसहार का विषय होती हैं। उदाहरणार्थ यदि 'कबीर काव्य मे सामाजिक चेतना' का अध्ययन किया जा रहा हो, तो उसमे के अध्यायो मे कही आप कबीर की सामाजिक चेतना का अग्रणी स्थापित करेंगे, कही उनकी सामाजिक दृष्टि मे पुरातन सास्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना की चर्चा करेंगे और कहीं कबीर के काव्य मे साम्प्रदायिक एकता, समन्वय, जाति और वर्ग-भेद का निषेध आदि बातो का उल्लेख किया हुआ सिद्ध करेंगे। ये ही सब तत्त्व जब सक्षेप मे कबीर का सामाजिक मूल्याकन करते हुए आप उपसहार मे एकत्रित कर देंगे, तो वे शोध प्रबन्धान्तर्गत समूची चर्चा का निष्कर्ष होगा।

उपसहार मे अध्यायों का सक्षेप नही होता, बल्कि अध्याय मे चर्चायित विषय का सार-तत्व होना है। उपसहार अधिक लम्बा या बहुत ही छोटा नही होना चाहिए। मूल शोध-ग्रथ की तुलना मे इसका कलेवर दस से बीस पृष्ठो तक हो सकता है। शोधार्थी इसमें अपनी मौलिकता को दर्शाते हुए अपनी उपलब्धियो का वर्णन भी करता है। शोध-विषय के सर्वांगीण परिशीलन-अनुशीलन द्वारा जो नवीन

---

1 यह कल्पित है, केवल नमूने के लिए दिया गया है।

तथ्य उद्घाटित होते हैं, जिन तथ्यो के सम्बन्ध मे पूर्व-ज्ञान मौन होता है, जो तथ्य वर्तमान ज्ञान मे वृद्धि कर रहे होते हैं, वे सब शोधार्थी की उपलब्धि कहलाते हैं। उपसंहार मे उपलब्धियो का स्पष्ट निर्देश होना चाहिए। मनुष्य के समष्टिगत या व्यष्टिगत जीवन पर उन उपलब्धियो का प्रभाव एवं भविष्य की सम्भावनाओं का संकेत देना भी उपसंहार की विशेषता होनी है। इस प्रकार उपसंहार और उपलब्धि साथ-साथ अन्तिम अध्याय की विभूति होते हैं और एक-दूसरे के पूरक भी।

(ङ) परिशिष्ट

परिशिष्ट शब्द का कोषार्थ हैं—छूटा हुआ, बचा हुआ आदि। अर्थात् परिशिष्ट उस अतिरिक्त किन्तु आवश्यक सूचनात्मक सामग्री को कहते हैं जो मूल प्रबन्ध में स्थान नहीं पा सकी। किसी कवि की रचना का परिशीलन करते हुए प्रायः देखने में आता है कि उसकी परिस्थितियो अथवा व्यक्तित्व का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ऐसी स्थिति मे कवि की परिस्थितियो से उदित उसका व्यक्तित्व मूल प्रबन्ध का विषय नही होता, तथापि परिशिष्ट मे उसे प्रस्तुत करके शोधक अपनी बात के समर्थन मे पाठको के सम्मुख उसका वह व्यक्तित्व भी उद्घाटित कर देता है, जिसके प्रभाव मे उक्त प्रवृत्ति का काव्य लिखा गया होगा।

परिशिष्ट दो प्रकार के माने जाते हैं। मूल रूप अतिरिक्त सूचनात्मक सामग्री का द्योतक होता है। इसमे उपर्युक्तानुसार कवि-व्यक्तित्व के अतिरिक्त शोध-सामग्री के स्रोतो का ब्यौरा, विद्वानो से पत्र-व्यवहार एवं भेंट, पत्र-व्यवहार से प्राप्त दृष्टिकोण आदि की सूचना दी जा सकती है। ये सूचनाएं यदि एकाधिक हो तो इन्हे परिशिष्ट 1, 2, 3 के क्रम मे रखा जा सकता है।

परिशिष्ट का दूसरा प्रकार शोध–विषय सम्बन्धी पाठ्य सामग्री की सूचना होती है। इसमे प्रथमाश आलोच्य–ग्रंथो की सूची का होता है इस प्रकार की सूची बनाते हुए उन ग्रंथो के नाम–धाम लिखे जाते हैं, जिनको अध्ययन का आधार बनाया जाता है। उदाहरणार्थ यदि उपन्यासो से सम्बन्धित कोई शोध–प्रबन्ध लिखा गया हो और उसमे एक निश्चित काल–सीमा या वाद–सीमा मे आने वाले उपन्यासो का परिशीलन किया गया हो, तो वे सब उपन्यास आलोच्य ग्रंथो की सूची में आएंगे। इनकी अकारादि क्रम से सूची बनाने ढंग निम्नानुसार होगा—

1 पाप और पुण्य, गुरुदत्त, नई दल्ली, भारतीय साहित्य सदन, 1978, प्रथम संस्करण।

2 लाल पसीना, अभिमन्यु अनत, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1977, प्रथम संस्करण।

3. लोक ऋण, विवेकी राय, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1977, प्रथम संस्करण।

ग्रन्थ सूची का द्वितीयांश सहायक सामग्री की सूची होती है, इसमें (क) प्रकाशित ग्रंथ, (ख) अप्रकाशित ग्रंथ, (ग) पुरातन पाण्डुलिपियां, (घ) अनेक खण्डीय पुस्तकों में से प्रयुक्त अंश, (ङ) विश्वकोश, (च) पुस्तिकाएं तथा पत्र पत्रिकाएं, (छ) राजकीय प्रकाशन के प्रयुक्त अंश, (ज) संपादित ग्रंथ में संकलित लेख, (झ) साक्षात्कार, (ञ) अभिमत अथवा पत्र-व्यवहार आदि क्रम में एक दीर्घ सूची जुटाई जाती है। ग्रंथों और सदर्भों की यह सूची इतनी पूर्ण होती है, कि मूल प्रबन्ध में प्रयुक्त कोई भी उद्धरण, पाद टिप्पणी या सदर्भ इस सूची से इतर नहीं रहता। इसमें सूची बनाने का क्रम निम्नानुसार है।

(क) प्रकाशित ग्रंथ—इस सूची में सर्वप्रथम अकारादि क्रम से लेखक का नाम दिया जाता है। लेखक के नाम में भी उपनाम पहले दिया जाता है, फिर अल्प विराम लगाकर लेखक का नाम लिखा जाता है, फिर पुस्तक का नाम, प्रकाशन स्थान, प्रकाशक, प्रकाशन वर्ष एवं संस्करण क्रम से दिए जाते हैं। यदि लेखक दो हों तो पहले लेखक का नाम उपर्युक्त प्रकार से लिखा जाता है और दूसरे का सीधा, शेष क्रम वही रहता है। लेखक दो से अधिक हों तो प्रथम लेखक के नाम के साथ 'तथा अन्य' लिखना पर्याप्त होगा। यदि रचना सम्पादित है तो लेखक की जगह सम्पादक का नाम देकर आगे कोष्ठक में संपादक लिखा जाता है। सभी की बानगी देखिए—

1 सहगल, मनमोहन/उपन्यासकार जैनेन्द्र मूल्यांकन और मूल्यांकन/दिल्ली/साहित्य भारती/1976/प्रथम संस्करण।

2 द्विवेदी, हजारी प्रसाद/कबीर/दिल्ली/राजकमल प्रकाशन/1971/प्रथम संस्करण।

3 मदान, इन्द्रनाथ तथा राकेश वत्स/कहानी और कहानी समीक्षा का मूल्यांकन दिल्ली/नेशनल पब्लिशिंग हाऊस/1974/प्रथम संस्करण।

4 नगेन्द्र (डॉ) तथा अन्य/हिन्दी साहित्य का इतिहास/दिल्ली/नै प हाऊस 1973/प्रथम संस्करण।

(ख) अप्रकाशित ग्रंथ—इनमें वे शोध-प्रबन्ध आदि सम्मिलित हैं, जो मुद्रित रूप में अभी उपलब्ध नहीं। अप्रकाशित ही विश्वविद्यालयीन पुस्तकालय में देखे जा सकते हैं। इनकी सूची बनाते समय शोध प्रबन्ध का शीर्षक उद्धरण-चिन्हों के बीच रेखांकित रखा जाता है। बानगी देखिए—

1 शर्मा, विमलेश कुमारी। "हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नारी की यौन कुण्ठा का अध्ययन।" अप्रकाशित शोध ग्रंथ/पंजाबी विश्वविद्यालय/1975।

(ग) पुरातन पाण्डुलिपियां—पुरानी हस्तलिखित रचनाएं जो पुस्तकालयों, संग्रहालयों अथवा पुरातत्त्व विभाग में देखी गई हों। इनकी सूची बनाते हुए निम्न ढंग प्रयोग में लाया जाय—

1. जातीराम/सुदामा मगल/गुरुमुखी पाण्डुलिपि/20वी शती वि./महाराजा पटियाला का निजी सग्रह मोती बाग पुस्तकालय/पाण्डुलिपि स. 137।

(घ) अनेक खण्डीय पुस्तकों म से प्रयुक्त अ श—इस प्रकार के ग्रन्थो की सूची बनाते हुए नाम के साथ अल्प विराम लगाकर खण्ड सख्या दें, शेष नियम प्रकाशित ग्रन्थो की तरह/यथा—

1 साहित्यकोश, खड 2/बनारस/ज्ञान मडल/1963/सस्करण ?।

(ड) विश्वकोश—विश्वकोश मे से सहज ही कुछ शब्दो की व्याख्याएँ अथवा सम्बद्ध सामग्री प्राप्त की होगी। समूचे विश्वकोश से कोई सम्बन्ध नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे उन लेखो की सूची तथा विश्वकोश के खण्डो का सदर्भ सूची मे जुटाना चाहिए। यथा—

1 नारायण, मन्मथ किशोर तथा जयप्रकाश/"गुप्त वश"/हिन्दी विश्वकोश (1963) खड 3/वाराणसी/नागरी प्रचारिणी सभा/प्रथम स।

2 मिश्र, हृदय नारायण/"बहुदेववाद/हिन्दी विश्वकोश (1967) खड 8/वाराणसी/नागरी प्रचारणी सभा/सस्करण प्रथम।

(च) पुस्तिकाए तथा पत्र-पत्रिकाए—इनमे से भी कुछ ही अ शो का अवलोकन किया जाता है। इसलिए इनकी सूची बनाते हुए भी सदर्भा शो का सकेत साथ मे दिया जाना चाहिए। सूची मे लेख का नाम उद्धरण-चिह्नो मे और पत्रिका का शीर्षक रेखाकित होना है। उसके बाद प्रकाशन वर्ष हिन्दी आकडो मे और पत्रिका की अ क-तिथि देना अपेक्षित है। यथा—

1 सहगल, मनमोहन, 'गुरु रविदास सम्बन्धी दन्त कथाए विश्लेषण एव मूल्याकन'/पजाब सौरभ, वर्ष 2/(मई-जून 1977) पृ 16।

2 सहगल मनमोहन/'गुरु वाणी मे कर्म-सिद्धान्त एव आवागमन'/कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी रिसर्च जर्नल/वर्ष 5/(खण्ड 4, अभाग 1-2, 1970) पृ 99।

पुस्तिका हो तो कोष्ठक मे 'पुस्तिका' शब्द लिख देना चाहिए। शेष स्थिति पूर्ववत् रहती है।

(छ) राजकीय प्रकाशनो के प्रयुक्त अ श—सूची बनाते हुए इस कोटि को अलग रखकर इसके सदर्भो का उल्लेख किया जाना चाहिए—

शुक्ल, केसरी नारायण। "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' मे हिन्दी साहित्य मे शुक्लजी का स्थान। (प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय) नई दिल्ली। भारत सरकार। जून 1968।

इसमे पुस्तिका/पुस्तिका का नाम उद्धरण-चिन्हो मे तथा लेख का रेखांकित होता है। प्रकाशक सकेत कोष्ठक मे दिया जाय।

(ज) सपादित ग्रथो मे सकलित प्रयुक्त लेख—इसकी सूची मे पहले लेखक, फिर उद्धरण चिह्नो मे पुस्तक का नाम और रेखांकित लेख का नाम देना चाहिए। तदोपरात सपादक का नाम तथा अन्य जानकारी दी जाती है। यथा—

'दिनश, रामगोपाल शर्मा। "साहित्यिक अनुसधान के प्रतिमान" मे हिन्दी-पूर्व शिव-काव्य परम्परा। स डॉ देवराज उपाध्याय तथा दिनेश। दिल्ली। नेशनल पब्लिशिंग हाऊस 1969। सस्करण प्रथम।

(झ) साक्षात्कार—शोधार्थी जिन विद्वानो का साक्षात्कार करता है, उन्हे भी उद्धृत तो करता ही है। ऐसे मे सदर्भ–सूची मे उनसे किए गए साक्षात्कारो की सूची निम्नानुसार बनाई जानी चाहिए—

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी। साक्षात्कार 8 दिसम्बर, 1974 को, सन्त-साहित्य म परोक्ष-सत्ता' के सम्बन्ध मे।

(ञ) अभिमत एव पत्र–व्यवहार आदि—साक्षात्कार की ही नाई यदि कुछ विद्वानो के पत्राश या अभिमत प्रबन्ध मे उद्धृत हो, तो उनकी सदर्भ–सूची यथा-निम्न बनाई जानी चाहिए -नगेन्द्र (डॉ)/पत्र द्वारा अभिमत/सितम्बर 1975/'हिन्दी में शोध की स्थिति' के सम्बन्ध म। शर्मा, विनय मोहन/पत्र–व्यवहार/जून 1975/'हिन्दी में शोध की प्रगति' के सम्बन्ध मे।

(ट) अनुक्रमणिकाए—इस प्रकार सदर्भ–सूची परिशिष्ट का दूसरा अग तैयार करती है। इसके उपरात विषयानुक्रमणिका तथा नामानुक्रमणिका बनाई जाती हैं। कुछ विद्वान इन्ह भी परिशिष्ट का तीसरा अग मानते हैं, कुछ अन्य का मत है कि ये अनुक्रमणिकाए शोध–प्रबन्ध का अलग अग हैं। जो हो, शोध प्रबन्ध में इनका विशेष महत्त्व होता है। परीक्षक भी इसका यथेष्ट मूल्य स्वीकार करते हैं। समूचे शोध–प्रबन्ध म आए विषयो को अकारादि क्रम से व्यवस्थित करके उनक सम्मुख शोध–प्रबन्ध के उन सभी पृष्ठो की क्रम–सख्या दी जाती है, जिन पर उस विषय से सम्बन्धित कोई भी चर्चा हुई है। यह सूची विषयानुक्रमणिका कहलाती है। नामानु-क्रमणिका में समग्र शोध प्रबन्ध मे प्रयुक्त हुई सज्ञाओं की अकारादि क्रम स सूची तैयार की जाती है और प्रत्यक सज्ञा–शब्द के सम्मुख प्रबन्ध के उन सभी पृष्ठो के आकड दिए जाते हैं, जिन पर वह शब्द प्रयुक्त हुआ होता है।

विषयानुक्रमणिका तथा नामानुक्रमणिका पर किया गया परिश्रम व्यर्थ नही होता। इनकी सहायता से शोध–प्रबन्ध मे प्रस्तुत कोई भी सदर्भ या उद्धर्ता कुछ ही क्षणो मे खोज लिया जा सकता है, एक–एक पृष्ठ को उलटकर एवं घटो की माथा-पच्ची के उपरात भी असम्भावित कार्य इन अनुक्रमणिकाओ से सहज हो जाता है। ये शोध–प्रबन्ध का अन्तिम आभूषण होती हैं।

(घ) शोध-प्रबन्ध के दोष और उनका निराकरण

उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन ही शोध-प्रबन्ध का दोष होता है। प्रबन्ध के औपचारिक अंगों को किसी भी रूप में प्रस्तुत करने से स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु अनिवार्य अंगों को रूपायित करने की एक तकनीकी विधि है। उससे हटने से प्रबन्ध की मर्यादा भंग होने का जोखिम होता है, यही दोष है।

शोध-प्रबन्ध में अनेक प्रकार के दोष हो सकते हैं—

(i) अशुद्ध अध्याय-क्रम।
(ii) अध्यायान्तर्गत प्रतिकूल प्रकरणों एवं तथ्यों की व्याख्या।
(iii) व्यर्थ की सामग्री।
(iv) लक्ष्य-अस्पष्टता।
(v) गलत उद्धरण।
(vi) दूषित संदर्भ।
(vii) विक्षिप्त भाषा।
(viii) दूषित नाम और तिथियाँ।
(ix) अपूर्ण ज्ञान।
(x) अशुद्ध शीर्षक।

इन मुख्य दोषों के अतिरिक्त अनेक अन्य दोष भी हो सकते हैं, यथा टंकन-दोष, प्रमाद युक्त तर्क, हठवादिता, मर्यादा-भंग, अनियमित ग्रन्थ-सूची, दूषित जिल्द, विकृत पृष्ठ-क्रम आदि। शोध-प्रबन्ध को विश्वविद्यालयीन अधिकारियों को सौंपने से पूर्व इन सब बातों की ध्यानपूर्वक जाँच-पड़ताल कर ली जानी चाहिए—कहीं भी उपर्युक्त प्रकार का कोई दोष हो, तो वहीं उसके निराकरण के लिए कदम उठाए जाने चाहिए, अन्यथा परीक्षक के नोटिस में आने पर परिणाम भला न होगा।

'अशुद्ध अध्यायक्रम' का निराकरण जिल्द बंधवाने से पूर्व बड़ी सुगमता से हो सकता है। आपकी दृष्टि से क्रमबद्ध किए गए अध्यायों में यदि तीसरे को चौथे और चौथे को तीसरे स्थान पर रखने से शोध-विषय के अध्ययन में अधिक गति या क्रम आता जान पड़ता हो, तो इस दोष को दूर करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। निर्देशक या अन्य किसी विद्वान के संकेत करने पर शोधार्थी को इस दिशा में अवश्य विचारना चाहिए। डॉ पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के प्रसिद्ध शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' में प्रदत्त अध्याय-क्रम के सम्बन्ध में डॉ विनयमोहन शर्मा का विचार है (शोध-प्रविधि, पृ 47, पाद-टिप्पणी) कि यदि चतुर्थ और पंचम अध्याय, पहले अध्याय के बाद रखे जाते तो चिन्तनक्रम-प्रवाह अबाधित रहता। इस प्रकार के दोषों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए और यदि जरूरत हो, तो अध्यायक्रम सुगमता से बदला जा सकता है।

अध्यायान्तर्गत प्रतिकूल प्रकरणों या तथ्यों की व्याख्या एक गम्भीर दोष है। इसे लेकर परीक्षक कदाचित् प्रबन्ध के पुनर्लेखन का सुझाव दे सकता है। इसलिए शोधक को इस दिशा में अतिरिक्त सावधानी रखनी चाहिए। इस दोष का रूप बड़ा विचित्र और दोष-अदोष में अन्तर बड़ा झीना होता है। उदाहरणार्थ आप 'रामचरितमानस' के सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित अध्याय में यदि धर्म, दर्शन या राम-भक्ति की महत्ता के सम्बन्ध में कोई तथ्य या प्रकरण उद्घाटित करते हैं, तो वह प्रतिकूलता का दोष बन जायगा। आप उक्त तथ्य का निरूपण अवश्य करेंगे, किन्तु सामाजिक मूल्यों के अध्याय की अपेक्षा दार्शनिक अथवा धार्मिक मूल्यों वाले अध्याय में करेंगे। इससे क्रम प्रवाह में बाधा नहीं आएगी और पाठक को सामाजिक तथा धार्मिक मूल्यों के बीच झीनी रेखा खींचने में कठिनाई नहीं होगी। उक्त प्रकार के दोष प्रायः रूप-रेखा तैयार करते हुए उपजते हैं, इसलिए प्रथम प्रारूप के उपरांत ध्यान से समूचे सामग्री का पुनरान्वीक्षण अनिवार्य माना जाता है। पुनरान्वीक्षण के के समय शोधार्थी तथा निर्देशक सावधानी से प्रकरणों की यथास्थानता की जांच करलें तो उक्त दोष से सुरक्षित रहा जा सकता है।

सामग्री संकलित करते समय प्रायः शोधार्थी महत्त्व की दृष्टि से श्रेष्ठ और हीन सब प्रकार की सामग्री के टीप लेता चलता है। अन्त तक आते-न आते उसके पास एक बृहद् ग्रन्थ की सामग्री एकत्रित हो जाती है। इसे सही दिशा में विभाजित और संयोजित करने का नियम है। वहां हमने संकेत किया है कि व्यर्थ की सामग्री को छांट कर अलग कर देना चाहिए। किन्तु संग्राहक को उससे मोह हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह संकलित सामग्री में से अधिकतर का प्रयोग कर लेना चाहता है। इसी व्यामोह में व्यर्थ सामग्री शोध प्रबन्ध का अंग बनती और दोष-वृद्धि में सहायक होती है। हम भली भांति स्मरण है कि जब हमने अपना शोध-प्रबन्ध लगभग आठ सौ हस्तलिखित पृष्ठों में पूरा करके अपने निर्देशक महोदय के सम्मुख प्रस्तुत किया, तो इधर-उधर से देखकर उन्होंने पहला आदेश यही दिया कि इसे 300 पृष्ठों का बनाकर उनके पास लाया जाय। स्वयं की लिखित सामग्री से बड़ी ममता होती है, हम उसमें से पांच सौ पृष्ठों की सामग्री को काट-पीट कर निरस्त करना था। अत्यन्त क्षोभ हुआ, किन्तु आदेश-पालन अनिवार्य था। अन्तिम परिणाम हमारे पक्ष में ही था, किन्तु कभी कभी शोधार्थी के नाते हम मोहान्ध हुए दोष को नहीं पहचानते। ऐसे में निर्देशक महोदय द्वारा व्यर्थ सामग्री को चिह्नित करते ही एकदम दोष का निराकरण भावी सानुकूलता के लिए अनिवार्य होता है।

कदाचित् शोधार्थी शोध-विषय की सीमाओं का संकुचन अथवा विस्तार कर बैठता है। शोध अर्थात् अनुसंधान एक-लक्षी अध्ययन का नाम है। उस लक्ष्य से भटक जाना गम्भीर दोष होता है। उदाहरणार्थ 'हिन्दी उपन्यासों में राष्ट्रीय चेतना' की चर्चा करते हुए यदि शोधक देश की राजनीति अथवा पुरातन संस्कारों की व्याख्या

मे ही उलझ जाए और एक दीर्घ परिमाण मे इन्ही बातो को सुलझाने के प्रयास मे मे 'राष्ट्रीय-चेतना' को विस्मृत किए रहे तो इसे लक्ष्य-भ्रष्ट दोष माना जायगा। शोधार्थी मूल विषय के सहयोगी अगो के रूप मे राजनीति या संस्कार की चर्चा कर सकता है, किन्तु जब सहयोगी अग मूल विषय पर छा जाते हैं, तो दोष प्रकट है। इसके निराकरण के लिए सामान्य सावधानी की अपेक्षा होती है। सन्तुलित उल्लेख दोष-निवारण का गुर है।

उद्धरणो की गलती भी गम्भीर मानी जाती है। उद्धरण प्रस्तुत करते समय सही पुस्तक या स्रोत का सकेत अनिवार्य है। यदि कबीर के दोहे को तुलसी या रहीम का कह दिया जायगा अथवा किसी के अशुद्ध उद्धरण को ज्यो का त्यो उठाकर तथा अपना कहकर चिपका दिया होगा तो निश्चय ही दूसरे की बला अपने गले डालने की बात होगी। शोधार्थी को प्रामाणिक उद्धरण ही देने चाहिए। जहा सन्देह हो, वहा या तो प्रामाणिकता की जाच कर लेनी चाहिए या वह उद्धरण देना ही नहीं चाहिए।

उद्धरणो वाली स्थिति सदर्भों मे भी हो सकती है। अननुकूल सदर्भ अथवा अप्रासगिक सदर्भ दूषित होते हैं। बिखरी हुई तथा प्रवाह-हीन भाषा भी दूषित होती है। इससे विचार-शृ खला भी टूट जाती है। शोधार्थी को बडी परिमार्जित और गौरव-पूर्ण भाषा मे प्रबन्ध लिखना चाहिए। काव्यात्मक भाषा, सामाजिक भाषा अत्यधिक आल-कारिक भाषा, शोध प्रबन्ध के लिए उपयुक्त नही होती। शोध-प्रबन्ध मे जटिल भाषा के प्रयोग से विषय की अस्पष्टता भासित होती है। लेखक को कोई विषय जितना स्पष्ट होगा, वह उतनी ही सरल भाषा मे उसे कह सकेगा। यही वास्तव मे लेखक के विषय सम्बन्धी अधिकार की पहचान है। उच्च कोटि के विद्वान कभी क्लिष्ट, द्विअर्थिक या जटिल भाषा का प्रयोग नही करते।

नामो और तिथियो की भूल का मुख्य कारण उनका इतिहास ग्रन्थो मे दूषित मुद्रण होता है। आकडे और वह भी विशेषकर देवनागरी के, प्राय अशुद्ध छपते हैं। 1 और 8 मे या 6 और 3 मे गडबड हो जाती है परिणामत तिथिया गलत होती हैं। नाम की भूल मिलते जुलते नामो वाले एकाधिक लेखको के कारण हो जाती है। मुझे अनेक पत्र ऐसे मिलते हैं जिन पर मेरा पता ठीक लिखा होता, पत्र का विषय भी मुझसे ही सम्बद्ध होता है किन्तु नाम के स्थान पर 'मनमोहन सहगल' की अपेक्षा 'मनमोहन गौतम' लिखा रहता है। 'मनमोहन मदारिया', 'मनमोहन तमन्ना' या 'मनमोहन सरल' कुछ भी लिखा हो सकता है। इस स्थिति में केवल सावधानी अपेक्षित होती है। तिथियो की भूल सुधारने के लिए किसी भी आकडे की प्रामाणिकता की जाच कर लेना समीचीन होगा। यह जाच इतिहास की सुप्रसिद्ध पुस्तको अथवा पुरातत्त्व की रपटो से की जा सकती है।

विषय का अपूर्ण ज्ञान अपने-आप मे एक गम्भीर दोष है। अपूर्ण ज्ञान का

व्यक्ति विषय की सही व्याख्या कर ही नहीं सकता। यदि कबीर के दार्शनिक विचारों पर चर्चा करते हुए शोधार्थी उसमें वे अद्वैत-तत्त्व को नाम देने का प्रयास करे, और उसे स्वयं अद्वैत तथा उसके विभिन्न प्रकारों का सुव्यवस्थित ज्ञान न हो, तो उसका यह अपूर्ण ज्ञान निश्चय ही उसके शोध-प्रबन्ध को दूषित कर देगा। इसका निराकरण एक मात्र अपेक्षित ज्ञान की उपलब्धि में निहित है। शोधार्थी को उन सब क्षेत्रों का सुव्यवस्थित ज्ञान लब्ध करना होगा और विषय की सुचारु व्याख्या देनी होगी।

शोध-प्रबन्ध के शीर्षक अथवा अध्यायों के शीर्षकों-उपशीर्षकों में भी भूल हो सकती है। 'गुरु ग्रन्थ साहिब में युग-चेतना' एक अशुद्ध शीर्षक है, यह 'गुरु ग्रन्थ साहिब में युगीन चेतना' होना चाहिए। इसी प्रकार अध्याय में 'नवीन जीवन के मूल्य' की 'नवीन जीवन-मूल्य' सही ठहरता है। तात्पर्य यह कि कभी-कभी प्रमादवश ऐसी भूलें शीर्षकों में रह जाती हैं, जो अर्थ का अनर्थ बनाती-सी प्रतीत होती हैं। शोधार्थी को इस अवस्था में अतिरिक्त सावधान रहने की आवश्यकता है।

अतिरिक्त दोषों में टंकन की भूलों को सावधानी-पूर्वक संशोधित करके ही शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया जाना चाहिए। इस पर 'जल्दी थी', 'समय-समाप्त हो रहा था', आदि बहानों को कोई अवकाश नहीं, न ही इन भूलों का उत्तरदायी टाइपिस्ट को ठहराया जा सकता है। यदि टंकन ठीक होता, तो क्या उपाधि टाइपिस्ट को मिलने वाली थी ? नहीं तो फिर भूलों का दोष उसके माथे क्यों ? सावधानी पूर्वक काली स्याही, रबड़ और ब्लेड की सहायता से शोधार्थी को टंकन की एक-एक भूल दूर करनी चाहिए। प्रमाद युक्त तर्कों से बचाव जरूरी है। ऐसे तर्कों से कदाचित परीक्षक चिढ़ जाता है। लिखने की अपेक्षा तो ऐसे तर्क को प्रबन्ध में से निकाल देना ही अधिक स्वस्थ है। हठवादिता परीक्षार्थी की शत्रु है। किसी मजहब, सम्प्रदाय, संस्कार या विचारधारा में प्रतिबद्ध होकर गलत बात को भी ठीक ठहराने का प्रयास प्राय घातक होता है। हमारा सुझाव है कि परीक्षार्थी को इन सब बातों की उपेक्षा करके अपने निष्पक्ष विचार देने चाहिए। निष्पक्ष विचारों के पीछे तर्क का बल होता है, जो हठवादिता के बल से निश्चय ही अधिक सशक्त होता है। मर्यादा-भंग का दोष भी हठवादी दृष्टिकोण से ही आता है। किसी मत, पंथ या सम्प्रदाय को बुरा कहना उसके महापुरुषों की आलोचना करना, पूज्य लोगों की खिल्ली उड़ाना, सम्मानित व्यक्तित्वों पर कीचड़ उछालना या सन्तों-महात्माओं पर व्यंग्य कसना मर्यादा-भंग कहलाता है। शोधार्थी निष्पक्ष गवेषक होता है, उसके लिए सब मत-मतान्तर, महापुरुष और सन्त-महात्मा आदरणीय होते हैं। वह सूप-स्वभाव का होता है, सार ग्रहण करता है, थोथा कहीं भी उड़े, उसे क्या ! मर्यादा-भंग दोष से बचाव के लिए प्रबन्ध को प्रस्तुत करने से पूर्व ध्यान-पूर्वक एक बार पढ़ लेना चाहिए। कभी प्रमाद-वश ऐसा कोई वाक्य आ भी गया हो, तो उसे काट दिया जाना चाहिए।

सहायक ग्रन्थ–सूची बनाने की विधि पीछे बताई जा चुकी है। जब कभी शोधार्थी अकारादि क्रम से ग्रन्थ सूची नहीं बनाते, कहीं पुस्तक और कहीं लेखक का नाम आगे–पीछे देते हैं, प्रकाशन–स्थान, प्रकाशक का नाम, प्रकाशन वर्ष तथा संस्करण नहीं लिखते तो ग्रन्थ–सूची दूषित कहलाती है। इस विधि अनुसार नियमित बनाया जाना चाहिए। जिल्द मजबूत होनी चाहिए। डाक की उठा–पटक में टूट जाने वाली जिल्द का बाहरी प्रभाव घातक हो सकता है। जिल्द बंधने से पूर्व पृष्ठों का क्रम एक बार पुनः जाँच लेना चाहिए। विकृत पृष्ठ–क्रम या पृष्ठ–लोप असावधानी और अव्यवस्था के परिचायक हैं। इसलिए परीक्षार्थी के लिए हमारा सुझाव है कि वह शोध–प्रबन्ध लिखते, टंकित करवाते, जिल्द बंधवाते और प्रबन्ध के विभिन्न अंगों को तैयार करते समय अतिरिक्त सावधानी अपनाए और विषय–चयन से लेकर प्रबन्ध–प्रस्तुति तक की समूची कालावधि में चौकन्ना ही नहीं, चौमुखा और बहुचेतन भी बनकर रहे।

अध्याय 10

प्रबन्ध—परीक्षण तथा मौखिकी

सर्वांगीण सावधानी पूर्वक शोध प्रबन्ध तैयार करके परीक्षणार्थ विश्वविद्यालयीन अधिकारियों को सौंप दिया जाता है। विश्वविद्यालय की गोपनीय शाखा प्रबन्ध विषय के प्रतिष्ठित विद्वानों को, व देशी हों या विदेशी, शोध प्रबन्ध के परीक्षक नियुक्त करती है। परीक्षणोपरांत विद्वान परीक्षक प्रबन्ध के सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं। प्रतिवेदन में प्राय परीक्षक चार प्रकार की संस्तुति करते हैं—

1 उपाधि प्रदान की जाय। मौखिकी अपेक्षित अथवा अनपेक्षित।

2 उपाधि प्रदान की जाय, किन्तु प्रकाशन पूर्व संशोधन अपेक्षित।

3 प्रबन्ध का पुनर्लेखन अपेक्षित, सुझाव दिए जा रहे हैं।

4 प्रबन्ध उपाधि के योग्य नहीं।

परीक्षक संस्तुति के साथ एक विस्तृत प्रतिवेदन भी देता है। यदि उसकी संस्तुति तीसरी या चौथी प्रकार की हो, तो वह शोध-प्रबन्ध के समस्त दोषों और भूलों को उघाड़ता है और संशोधनार्थ कुछ सुझाव भी देता है। ऐसी स्थिति में शोधार्थी प्राय एकदम घबरा जाता है और अपनी समूची मेहनत पर पानी फिर गया महसूस करने लगता है। किन्तु हमारा मत है कि कठिनाई या विपत्ति का सागर व्यग्रता से नहीं, साहस और निष्ठा से संतरित होता है। शोधक को एकदम घबरा जाने की बजाय, धैर्य से कार्य लेना चाहिए। तीसरी प्रकार के प्रतिवेदन में समूचे शोध प्रबन्ध के पुनर्लेखन की आवश्यकता प्राय नहीं होती। सुझावों के अनुसार कुछ अंशों में परिवर्तन अपेक्षित होता है। केवल उन्हीं अंशों को निकालकर संशोधित एवं पुनः टंकित करवाया जा सकता है। प्रबन्ध की जिल्द दो बार बंधवाने की अपेक्षा होती है।

तीसरे अध्याय के अन्तिम प्रभाग में शोध-प्रबन्ध के सम्भावित दोषों की चर्चा हम कर चुके हैं। परीक्षण के सुझाव लगभग उन्हीं दोषों को दूर करने के लिए होते हैं। किसी तथ्य अथवा प्रकरण को यदि गलत अध्याय के अन्तर्गत रखा गया हो, तो परीक्षक उसे यथा स्थान करने का सुझाव दे सकता है। अध्यायों का क्रम बदलने का सुझाव अथवा किसी अध्याय को संकुचित या विस्तृत करने की बात भी चलाई जा

सकती हैं। टंकन की भूलें, सन्दर्भ का अनुपयुक्त प्रयोग कतिपय अधिकारी विद्वानों के मतों का अभाव अथवा विषय पर श्रेष्ठतर पुस्तकों का न देख सकने का आक्षेप आदि अंग परीक्षक के सुझाव बन सकते हैं। ऐसे में शोधार्थी को चाहिए कि वह एक-एक सुझाव के अनुरूप शोध ग्रन्थ की सामग्री को संशोधित कर लें। भ्रान्त निष्कर्षों को स्पष्ट करें और परीक्षक के अनुसार अपेक्षित पुस्तकों का अवलोकन कर उनकी सामग्री शोध प्रबन्ध में जोड़ लें। दूषित प्रकरण को हटाया जा सकता है और कतिपय तथ्यों की व्याख्या परीक्षक के सुझावानुसार की जा सकती है।

यदि सुझाव भाषा सम्बन्धी है, तो अधिक कष्ट का कारण बना करता है। उसका स्पष्ट अभिप्राय यह होता है कि शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त समूची भाषा का परिमार्जन करना पड़ता है। निश्चय ही इसमें सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध में परिवर्तन करना पड़ता है और संशोधित सामग्री को पुनः टंकित करके परीक्षक की सन्तुष्टि के लिए प्रस्तुत करना होता है। भाषा का दोष एक ऐसा दोष है, जो उच्चस्तरीय शोध-छात्र में होना उसे स्तरानुसार अक्षम बना देता है। इसलिए शोधार्थी को प्रबन्ध प्रस्तुत करने से पहले ही अपनी भाषा का सर्वांगीण सर्वेक्षण किसी विद्वान से करवा लेना चाहिए। ऐसा करने की अपेक्षा तभी होती है जब शोधार्थी का भाषा पर समुचित अधिकार न हो।

संशोधित शोध प्रबन्ध की प्रस्तुत करने में वे ही सब औपचारिकताएं निभानी पड़ती है, जो पहली बार मूल प्रबन्ध के समय निभाई गई थी।

यदि परीक्षक चौथे प्रकार की संस्तुति करता है और प्रबन्ध को उपाधि के योग्य नहीं मानता, तो यह स्थिति एक प्रकार से अनुत्तीर्ण होने की स्थिति होती है। सहज ही ऐसे प्रतिवेदन पर शोधार्थी निराश हो उठता है, उसे अपने गत तीन चार वर्ष के परिश्रम पर पानी फिर गया महसूस होने लगता है। किन्तु सबरोग की एक दवा धैर्य है, जिसका दामन शोधार्थी को नहीं छोड़ना चाहिए। ऐसे में शोधार्थी को परीक्षक के सुझावों को सम्मुख रखते हुए प्रत्येक अध्याय में आवश्यक परिवर्तन करके उसका पुनर्लेख तैयार करना चाहिए। पुनर्लिखित शोध प्रबन्ध को सुझावों की सूची के साथ उसे निर्देशक की स्वीकृति के लिए भी भेजना चाहिए। बहुत सम्भव है कि निर्देशक किसी विशिष्ट सुझाव के अनुपयुक्त संशोधन की ओर संकेत कर सके। यदि सम्भव हो तो परीक्षक से पत्र-व्यवहार करके अथवा व्यक्तिगत रूप से मिलकर उसके सुझावों को और अधिक स्पष्ट कर लेना चाहिए। संशोधित और परिवर्तित प्रबन्ध के तैयार हो जाने पर भी ऐसा किया जा सकता है। कदाचित् विश्वविद्यालय की ओर से प्रत्याशी को परीक्षक से भेंट करने की अनुमति नहीं होती। बहुधा उस परीक्षक का नाम भी नहीं बताया जाता। ऐसी स्थिति में निर्देशक को परीक्षक के सुझावों की

व्याख्या करनी चाहिए और शोधार्थी का सही पथ-प्रदर्शन करना चाहिए। पूर्णतः परिवर्तित शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने के लिए शायद विश्वविद्यालय के कुछ निश्चित नियम होते हैं। आंशिक रूप से अस्वीकृत शोध प्रबन्ध छः ही महीने के बाद दोबारा प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु पूर्णतः अस्वीकृत और पुनर्लिखित शोध-प्रबन्ध सम्भवतः इस छोटे अन्तराल के बाद प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। यदि पूर्ण प्रस्तुतीकरण के लिए कोई काल सीमा निश्चित है, तो शोधार्थी को उपलब्ध समय का अधिकतम लाभ उठाते हुए अपने शोध प्रबन्ध को अधिक से अधिक परिमार्जित और विचार युक्त बना लेना चाहिए।

मौखिकी—कुछ विश्वविद्यालयों में मौखिक अनिवार्य है, अन्य में परीक्षकों की संस्तुति पर मौखिकी का प्रबन्ध किया जाता है। प्रायः प्रत्याशी के पास जब मौखिकी का निमन्त्रण पहुंचता है, तो वह परीक्षकों के प्रतिवेदन में अपने को उत्तीर्ण समझ लेता है। यह ठीक भी है, किन्तु एक दो प्रतिशत ऐसे अवसर भी होते हैं जिनमें मौखिकी के उपरान्त शोध प्रबन्ध को अस्वीकृत कर दिया जाए। अतः परीक्षार्थी को सावधान रहना चाहिए और यथेष्ट तैयारी के बाद मौखिकी के लिए प्रस्तुत होना चाहिए। मौखिकी के लिए प्रस्तुत होते समय शोधार्थी को धैर्य, साहस और आत्म विश्वास का सहारा लेना चाहिए। ध्यान देने की बात यह है कि मौखिकी-परीक्षा लेने वाले परीक्षक सहानुभूति पूर्ण और स्नेहशील होते हैं, इसलिए उनके सम्मुख जाते हुए व्यग्रता का कोई प्रश्न नहीं होता। सामान्य शिष्टाचार की अपेक्षा जरूर होती है। शोधार्थी हंसमुख भाव से परीक्षा-कक्ष में प्रवेश करे, परीक्षकों को सस्मित अभिवादन दे और उनके द्वारा आदेश दिए जाने पर सामने की कुर्सी पर आसन ग्रहण करे। उपरान्त परीक्षक के प्रश्नों को ध्यान पूर्वक सुने, समझे, समुचित उत्तर और अनुकूल शिष्टता बनाए रखे। परीक्षक के द्वारा जाने के लिए अनुमति दिए जाने पर पुनः अभिवादन कर बाहर चला जाए।

कदाचित् ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि उसे परीक्षक महोदय का कोई प्रश्न पूरी तरह समझ न आया हो। वहां शिष्टता की मांग है कि "आपका प्रश्न उचित नहीं" की अपेक्षा "क्षमा कीजिएगा मैं प्रश्न को ठीक समझ नहीं पाया" कहना समीचीन होगा। किसी भी प्रश्न पर शोधार्थी द्वारा भाषण का मूड बना लेना अनुपयुक्त है। छोटे और सामान्य प्रश्न का छोटा और सामान्य उत्तर ही योग्य होता है। यदि परीक्षक किसी बात पर जोर दें और शोधार्थी उससे सहमत न हो, तो भी अपने मत पर हठ करने की अपेक्षा शोधक को विनय पूर्वक परीक्षक का मत स्वीकार कर लेना चाहिए, और नम्रता पूर्वक उस सुझाव को शोध प्रबन्ध में जोड़ लेने का विश्वास भी दिला देना चाहिए। मौखिकी के समय परीक्षक के सम्मुख शोधार्थी को सलीके से बैठना तथा अक्षुण्ण भाव से प्रश्नोत्तर देना चाहिए।

मौखिकी में पूछे जाने वाले सम्भावित प्रश्न--सामान्यत. मौखिकी एक औपचारिकता होती है। यदि परीक्षक उपाधि-प्रदान करने की संस्तुति कर चुका हो, तो अधिकाशत वह मौखिकी में शोधक को अनुत्तीर्ण घोषित नहीं करता। इस पर भी वह उत्तीर्ण घोषणा के लिए बाध्य नहीं होता। यदि शोधार्थी के उत्तरों से उसे सन्तोष न हो तो वह आशिक अनुत्तीर्णता की रपट भी दे सकता है। ऐसे में शोधार्थी को छ या तीन महीने के बाद पुन मौखिकी के लिए प्रस्तुत होना पड़ता है। किन्तु ऐसी स्थितिया दो तीन प्रतिशत से अधिक नहीं होती।

परीक्षा कक्ष में प्रविष्ट होते ही आम तौर पर परीक्षक पहला प्रश्न यह करता है "प्रबन्ध में आपकी मौलिक उपलब्धि क्या है?" यह एक प्रश्न है, जो समूचे शोध-प्रबन्ध म प्रसरित होते हुए भी सुगमतापूर्वक दो चार पक्तियों म स्पष्ट कर सकना सम्भवत कठिन होता है। प्रत्याशी इस पर एकदम घबराकर हकलाने लगता है और अपने समूचे शोध प्रबन्ध के उत्तम प्रभाव को भी धो डालता है। अत मौखिकी से पूर्व ही प्रत्याशी को ऐसे प्रश्न के लिए मनसा तैयार हो जाना चाहिए। मन म पहले से वह इसका उत्तर सोच सकता है, निर्देशक स पूछ सकता है, लिखकर याद रख सकता है। शोधार्थी को मौखिकी क लिए प्र तुत होने से पूर्व अपने शोध-प्रबन्ध को ध्यानपूर्वक पढ लेना चाहिए। प्रबन्ध के ही विभिन्न प्र गो में शोधक की मौलिक उपलब्धिया अथवा प्रतिपादित मत विद्यमान रहते है। उन्ही मतो को स्पष्ट कर देना उक्त प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर हो सकता है।

परीक्षक प्राय विषय चुनाव के सम्बन्ध मे भी प्रश्न करता है। "आपने यही विषय शोध के लिए क्या चुना? इसम आपकी रुचि क्योकर हुई?" सरीखे प्रश्न की सम्भावना बराबर रहती है इसलिए शोधार्थी को इसके लिए भी तैयार रहना चाहिए। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका कोई निश्चित उत्तर नहीं हो सकता। परीक्षार्थी प्रसन्न मुद्रा म उक्त विषय-चयन के सम्बन्ध में कोई भी सगत कारण बता सकता है। रुचि, विशेष अध्ययन, पारिवारिक वातावरण, जिज्ञासा या पूर्वज्ञान आदि कोई भी कारण प्रश्न का सगत आधार दर्शा सकता है। ऐसे प्रश्नो पर 'निर्देशक द्वारा सुझाया गया' 'शोध समिति न बलात् यही विषय दिया,' 'अन्य किसी विषय में पजीकरण सम्भव न था' उत्तर दूषित होते हैं। शोधार्थी को सावधान रहना चाहिए।

एक और सामान्यत किया जाने वाला प्रश्न सामग्री संकलन के बारे भी पूछ लिया जाता है। 'आपके शोध-सामग्री-स्रोत क्या हैं?" "आपने सामग्री किन माध्यमो एव साधनो से प्राप्त की?' यह प्रश्न बड़ा सीधा और स्पष्ट है। बिना किसी घबराहट के कोई भी शोधार्थी इसका उत्तर दे सकता है। इसम सामग्री सकलन के प्रकाशित

अप्रकाशित स्रोतो की चर्चा की जाती है, पाण्डुलिपियो, सरकारी रपटो, पुरातत्त्व-सामग्री एव गजेटियर आदि के सदर्भ उठाए जाते हैं, या विद्वानो से किए साक्षात्कार अथवा प्राप्त अभिमत के सम्बन्ध म बात की जा सकती है। इस प्रश्न के उत्तर मे शोधार्थी अच्छा प्रभाव बना सकता है, केवल कुछ सावधानी और तथ्य ज्ञान की अपेक्षा है।

पुन प्रकरण, सदर्भ या तथ्यो के सम्बन्ध मे प्रश्न उठाए जाते हैं। अमुक प्रकरण का आधार क्या है ? अमुक प्रकरण से आप कौन-सा तथ्य उद्घाटित करना चाहते हैं ? अमुक प्रकरण का सदर्भ क्या है ? अमुक तथ्य क्यो न अमुक अध्याय मे सम्मिलित किया जाय ? अमुक अध्याय मे ही उसे रखने की हठ क्यो ? आदि चर्चा-प्रश्न होते हैं। इन प्रश्नो के सरल एव छोटे उत्तर अपेक्षित होते है। भाषा पट्टी देने का प्रयास कदापि नही किया जाना चाहिए। यदि कोई बिन्दु, किसी कारण वश, शोधार्थी को स्पष्ट न हो, तो उसके लिए अज्ञान स्वीकृति करने मे कोई बुराई नही। ऐसी स्थिति मे यदि परीक्षक कुछ सुझाव दे तो उसे भी सविनय स्वीकार करना चाहिए।

कदाचित् शोध प्रबन्ध म व्यक्त किसी पद, कथन या विचार सम्बन्धी व्याख्या भी परीक्षक पूछ सकता है। ऐसे अवसर पर अपनी ज्ञान सीमाओं का स्पष्ट प्रकटी-करण करना होगा। प्रकम्प, स्वेद, विवर्ण और वाणी विकास से ऊपर उठकर प्रत्याशी को अपनी बात कह देनी होगी। निर्देशक यदि वही मौजूद हो तो कुछ सहायता सकेत भी दे सकता है। अन्यथा उद्धरण प्रस्तुत करते हुए शोधार्थी के मन मे जो भी भावना रही हो, उसे स्पष्ट कहने मे कोई सकोच नही होना चाहिए।

परीक्षक कभी विषय सम्बन्धी कुछ मूल ग्र थो की चर्चा करने लगते हैं। ऐसे मे परीक्षक के "अमुक ग्र थ पढा है ?" पूछने पर सही उत्तर देना ही समीचीन होता है। बहुधा शोधार्थी अपना प्रभाव गाठने के चक्कर मे मिथ्या कथन करते हैं और स्वय उसी पाश में उलझ जाते हैं। शोधार्थी इस दशा मे सत्य का दामन पकड़े तो अधिक उपयुक्त रहता है। वह कह सकता है कि उस वे मूल ग्र थ मिल नही सके। परीक्षक का सुझाव उसके लिए सिर माथे, ग्र थ उपलब्ध होने ही वह उन्हे जरूर पढेगा। ऐसा आश्वासन परीक्षक की सद्भावना का पोषण करता है, और परीक्षार्थी व्यर्थ की परे-शानी से बच जाता है।

अब परीक्षक अनौपचारिक अशुद्धियो की बात करने लगता है। भाषा के अशुद्ध प्रयोगो का सकेत देता है, अत्यधिक सकुचन या विस्तार की चर्चा करता है,

टक्न की अशुद्धियो की ओर ध्यानाकर्षित करता है, वर्ण या वाक्य-विन्यास की रेख क्ति भूलें दिखाता है, शीर्षको या उपशीर्षको की अनगुकूलता का सकेत देता है, आदि। इस पर परीक्षार्थी का धर्म है कि वह सविनय इन सब भूलो को स्वीकार कर ले, अपनी गलतियो पर क्षोभ प्रकट करे और परीक्षक को आश्वासन दे कि प्रकाशन-काल मे इन सभी भूलो का निश्चित सशोधन कर लिया जायगा।

निष्कर्ष यह कि विनयशीलता, शिष्टता, शोध विषय सम्बन्धी उपयुक्त तैयारी और सरल सक्षिप्त उत्तरो से शोधार्थी मौखिकी पारावार को उल्लघि पार हो जाइ।'